अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे सप्तमं प्रसूनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रकाशानन्दविरचिता

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली

[भाषानुवादसहिता]

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे सप्तमं प्रसूनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीप्रकाशानन्दविरचिता

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली

'फतेहगढ़गवर्नमेण्टहाईस्कूल'-संस्कृतप्रधानाध्यापकेन त्रिपाठ्युपाह्व-

पं० श्रीप्रेमवल्लभशास्त्रिणा विरचितेन भाषानुवादेन

समलङ्कृता

श्रीजो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्लशास्त्रिणा

अच्युतग्रन्थमालाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिसाहित्याचार्येण च

सम्पादिता ।

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः, काशी

संवत्

प्रथमावृत्तिः] १९९३ [मूल्यम् १)

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

मुद्रक
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

भूमिका

इस संसारमें ब्रह्मासे लेकर पिपीलिकापर्यन्त सभी प्राणी यही चाहते हैं कि त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति हो और परम सुखकी प्राप्ति हो। अब सोचना चाहिए कि दुःखकी निवृत्ति किस तरह होती है? इसपर कोई-कोई लोग तो यह कह दिया करते हैं कि आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखकी निवृत्ति औषधि, वनिता आदिके सेवन, नीतिपुरःसर व्यवहार, मन्त्र, तन्त्र आदिसे हो सकती है। परन्तु ये लौकिक उपाय दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं कर सकते। इन उपायोंसे यद्यपि कदाचित् कथंचित् दुःखहानि हो भी जाय, तथापि निवृत्त हुए दुःखकी फिर भी प्राप्ति हो सकती है। इसलिए दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिका साधन ज्ञान ही है। कहा भी है—'ज्ञानादेव हि कैवल्यम्' (ज्ञानसे ही कैवल्य [सुख] प्राप्त होता है), 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (आत्माको जानकर ही मृत्युको जीत सकता है, मृत्युको जीतनेका दूसरा मार्ग नहीं है) 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' (हे अर्जुन, तुम ज्ञानरूपी नौकासे ही दुःखसागरसे पार हो सकोगे), 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' (ज्ञानकी प्राप्ति करके शीघ्र परम शान्तिको पाता है)' 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देती है) इत्यादि भ्रम, प्रमाद आदि दोषोंसे रहित श्रुति-स्मृतिवचनोंसे ज्ञान ही एकमात्र निरतिशय सुखका साधन समझा जाता है।

यहांपर प्रश्न यह उठता है कि वह ज्ञान किमाकारक और किन्निमित्तक है? इसपर कहा जाता है कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मको जाननेवाला परम पदको प्राप्त होता है), 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है), 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (अरे मैत्रेयि, यह आत्मा ही श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे दर्शन-प्रत्यक्ष करने योग्य है), 'आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः' (यदि यह पुरुष अपनेको जान जाय कि 'मैं यह हूँ' तो फिर किसलिए सन्ताप करे), 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते सर्वं दृष्टं श्रुतं मतं भवति' (एक आत्माके दृष्ट, श्रुत और विदित हो जानेपर

सभी दृष्ट, श्रुत और विदित हो जाते हैं), 'शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति' (शान्त, दान्त, उपरत, सहिष्णु हो और चित्तको एकाग्र कर अपनेमें ही आत्माको देखे) इत्यादि वचनोंसे वह ब्रह्मात्मैकत्व शम, दम आदि निमित्तसे अपरोक्ष होता है।

इस परम ज्ञानलाभके निमित्त ही प्राचीन द्विजातिगण विरक्त होकर मुनियोंके आश्रमोंकी शरण लेते थे। इसी बातको श्रुति भी कहती है—'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' [अर्थात् जिज्ञासु पुरुष स्थावर-जंगम समस्त पदार्थोंको बीजाङ्कुरवत् परस्पर उत्पन्न होनेवाले और अनेक अनर्थोंसे भरे हुए कदलीगर्भवत् असार तथा मरीचिजलवत्, गन्धर्वनगरवत् और जलबुद्बुदवत् मिथ्या जानकर इनसे विरक्त हो जाय और यह जान ले कि आत्माकी प्राप्ति कर्मोंसे नहीं होती है, इसलिए वह जिज्ञासु पुरुष समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाय और गुरुसे कहे—

'स्वामिन् नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥'

(हे लोकबन्धो, हे दयासागर, हे स्वामिन् आपको नमस्कार है। मैं संसार-सागरमें गिरा हूँ, आप अपनी करुणा रूप सुधासे पूर्ण सरल कृपाकटाक्षसे मेरा उद्धार करो।)

और

'कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः ।
जाने न किंचित् कृपया च मे भो संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥''

(हे प्रभो, मैं इस संसारसागरको कैसे तरूँ, क्या मेरी गति है ? कौन-सा उपाय है ? भगवन्, मैं कुछ नहीं जानता। आप ही अपनी कृपासे मुझे संसार-दुःखसे बचाओ।)

शिष्य की इस तरह प्रार्थना करनेपर गुरु उस साधनचतुष्टयसम्पन्न योग्य शिष्यको ब्रह्मविद्याका उपदेश करे]। 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इस श्रुतिमें ब्राह्मणपद आया है, इससे ब्रह्मविद्यामें ब्राह्मणका ही मुख्य अधिकार है और ब्राह्मण जातिके समीपवर्ती होनेसे विरक्तदशामें क्षत्रिय और वैश्यका भी अधिकार है, शूद्रोंका कदापि नहीं।

इस ब्रह्मविद्याका गौरव आर्य पुरुषोंमें अनादिकालसे ही चला आ रहा है इसीसे स्वस्वरूपकी प्राप्ति होती है। जिनके हृदयमें पूर्वजन्मके शुभकर्मोंसे अद्वैतसंस्कार चले आते हैं, उनको तो इस विद्यासे निरतिशय आनन्द होता है और जिनका अन्तःकरण मलिन है, उनको इसमें व्यामोह हो जाता है, इसीलिए तो वादियोंने तरह-तरहसे जीवस्वरूपका वर्णन किया है। इस प्रकरणमें उनके कुछ सिद्धान्त दिखाये जाते हैं—

प्रथम चार्वाकका कथन है कि माता और पिता द्वारा उपभुक्त अन्न-जलसे और वीर्यरूपसे स्वयं परिणत हुए पृथिव्यादि चार भूतोंमें उत्पन्न हुई चित्शक्तिका नाम जीव है, शरीरसे भिन्न लोकान्तरगामी अन्य कोई जीव नहीं है इत्यादि।

बौद्ध रूप, विज्ञान आदि पञ्चस्कन्धोंको आत्मा मानते हैं। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार ये उनके पांच स्कन्ध हैं। इनमेंसे अपने-अपने विषयोंके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका नाम रूपस्कन्ध है और आलयविज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान इनके प्रवाहका नाम विज्ञानस्कन्ध है। रूप तथा विज्ञान इन दोनों स्कन्धोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले सुख, दुःख आदि प्रत्ययोंके प्रवाहका नाम वेदनास्कन्ध है। घट-पटादिको विषय करनेवाले विज्ञानके प्रवाहका नाम संज्ञास्कन्ध है। एवं वेदनास्कन्धपूर्वक राग, द्वेष, मान, मद, धर्म, अधर्म इत्यादिका नाम संस्कारस्कन्ध है। बस, इन पाँच स्कन्धोंको ही बौद्धोंने आत्मा माना है, इस पञ्चस्कन्धसे भिन्न कोई आत्मा वस्तु उनके मतमें नहीं है। यद्यपि यह प्रवाहरूपसे अनेक जन्म-जन्मान्तर पाता रहता है, तथापि स्वरूपसे इसका पुनर्जन्म नहीं है। बुद्ध महात्माने पदार्थमात्रमें 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' 'सर्वं दुःखं दुःखम्' 'सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्' 'सर्वं शून्यं शून्यम्' इस प्रकारकी चार भावनाओंसे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति मानी है। और नीतिपूर्वक अनेक प्रकारके अर्थोंका उपार्जन करके द्वादश आयतनोंका पूजन करनेसे भी पुरुषका कल्याण होता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन बारहोंका नाम द्वादशायतन है। तात्पर्य यह है कि नीतिपूर्वक शरीरका पालन-पोषण करना ही बुद्धके मतमें श्रेयस्कर है। और पूर्वोक्त भावनाचतुष्टयका भी संसारके पदार्थोंसे उपरत होकर आत्माका सुखसम्पादन करनेमें तात्पर्य है।

जैनोंके सिद्धान्तमें जीवका स्वरूप शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता, भोक्ता

परिणामी—शरीरके बराबर परिणामवाला—चेतनस्वरूप माना गया है। और अनादिसिद्ध यावत् कर्मोंके क्षयसे मुमुक्षु जीवका मोक्ष होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ये तीन जीवकी मुक्तिके उपाय माने गये हैं। तत्त्वके प्रकाशका नाम ज्ञान है, तत्त्वमें रुचिवृद्धिका नाम दर्शन है और पापात्मक क्रियारम्भमात्रका त्याग कर देना ही चारित्र्य है। इन ज्ञान आदि तीनोंके बढ़नेसे इस जीवके राग आदिका क्षय होता है और राग आदिके क्षयसे सम्पूर्ण कर्मोंका नाश होता है, फिर क्षीणकर्मवाला जीव अपने शरीरके आकारके समान आकारको धारण करके स्वभावसिद्ध ऊर्ध्व गतिको प्राप्त होता है, इत्यादि।

इनके सिवा महर्षि कपिलदेव, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि जैमिनि और महर्षि व्यासने जीवात्माका स्वरूप चेतन, व्यापक तथा नाना माना है। और कणाद और गौतमने जीवका स्वरूप ज्ञानका अधिकरण, विभु तथा नाना माना है। इनमेंसे सर्वोत्तम तथा श्रुतिविहित गम्भीरविचारपूर्ण व्यास भगवान्‌का सिद्धान्त ही जिज्ञासुके लिए परम आदरणीय है। इसी सिद्धान्तको गुरुपरम्परासे पाकर पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजीने अपनी असाधारण विद्वत्तासे वादियोंको पराजित करके अद्वैतका डंका बजाया था। वेदान्तियोंने भी आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, एकजीववादके भेदसे जीवस्वरूपका तरह-तरहसे वर्णन किया है।

इनमेंसे आभासवादवालोंका कहना है कि अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञानके साथ तादात्म्य (अभेद) भावको प्राप्त होकर अपने चिदाभासके अविवेकसे अन्तर्यामी साक्षी और जगत्कारण कहलाता है और बुद्धिसे उपहित आत्मा बुद्धिके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर अपने चिदाभासके अविवेकसे जीव कर्ता, भोक्ता और प्रमाता कहलाता है। इस पक्षमें जीव नाना और ईश्वर एक है, क्योंकि प्रतिदेह बुद्धि भिन्न है। अतएव उस बुद्धिगत चिदाभासके भेदसे उससे अपृथग्भूत चैतन्य भी भिन्न-सा प्रतीत होता है, इसलिए नाना जीव हुए और अज्ञान सर्वत्र अभिन्न है और तद्गत चिदाभास भी एक ही ठहरा; इस कारण उससे अपृथग्भूत साक्षी चैतन्यका भी कदापि भेदभान नहीं होता है, इससे ईश्वर एक सिद्ध हुआ।

प्रतिबिम्बवादकी प्रक्रिया यह है कि अज्ञानमें प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य ईश्वर कहलाता है और बुद्धिमें प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य जीव कहलाता है। अज्ञानोपहित चैतन्य शुद्ध कहलाता है, इन दोनों पक्षोंमें से 'अग्निर्यथैको भुवन-

प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥' यह श्रुति और 'आभास एव च' 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि शारीरकसूत्र प्रमाण हैं ।

तीसरा अवच्छेदवाद है । इस पक्षमें एक ही चैतन्य अज्ञानके आश्रय और विषयके भेदसे दो तरहका माना जाता है अर्थात् अज्ञानका विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है और अज्ञानका आश्रयभूत चैतन्य जीव है और अज्ञानके नाना होनेसे जीव भी नाना प्रकारके माने जाते हैं तथा प्रतिजीव प्रपञ्चका भेद भी माना जाता है । यद्यपि प्रतिजीव प्रपञ्चभेदसे 'यो घटस्त्वया दृष्टः स एव मया दृष्टः' यह ज्ञान नहीं बन सकता है, तथापि सादृश्यसे निर्वाह कर लेते हैं । इस मतमें ही स्वाज्ञानसे उपहित होनेसे जीव जगत्का उपादान कारण माना गया है । ईश्वर तो प्रपञ्चसहित जीवकी अविद्याका अधिष्ठान होनेसे सिर्फ उपचारमात्रसे कारण माना गया है ।

वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त एक जीववाद है । इसकी प्रक्रिया यह है—अज्ञानसे उपहित बिम्बचैतन्य ईश्वर और अज्ञानमें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव कहलाता है अथवा यों कहिए कि अज्ञानसे अनुपहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर और अज्ञानोपहित चैतन्य जीव है । इसीको दृष्टि-सृष्टिवाद भी कहते हैं । इस पक्षमें जीव ही अपने अज्ञानवशसे जगत्का उपादान और निमित्तकारण माना जाता है और यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् प्रतीतिमात्र है । यद्यपि देहभेदसे जीवभेद प्रतीत होता है, तथापि वह भ्रान्तिमात्र है । वास्तवमें एक ही जीव है । इस एक ही जीवका मोक्ष स्वकल्पित गुरु और शास्त्रोपदेशसे परिवर्द्धित श्रवण, मनन आदिकी दृढ़तासे आत्माका साक्षात्कार होनेपर होता है और शुक, वामदेव आदिका जो मोक्ष सुननेमें आता है, वह अर्थवादमात्र है । एक ही स्वप्नके दृष्टान्तसे सब शङ्काओंका समाधान इसमें हो जाता है । कहा भी है—

'ब्रह्माज्ञानादीशजीवादिभावात्
भ्रान्तं जाग्रत्स्वप्नसुप्तीर्बिभर्त्ति ।
स्वात्मज्ञानादज्ञताया निवृत्तौ
नान्यो जीवो नास्ति चाज्ञातमन्यत् ॥

अर्थात् ब्रह्मका अज्ञान देवादिशरीराकारसे और जगदाकारसे परिणत होता है । यही अविद्यावृत्ति ज्ञानाभास और भ्रमनामसे कही जाती है और

विषयका भी इसीसे स्फुरण होता है; इसीलिए विषय, देह, जगत् और अविद्यावृत्ति ये सब अविद्योपादानवाले हैं, और यदि अद्वैतसाक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, तो तत्कार्य जगत्की निवृत्ति भी सुतरां हुई, इस दशामें स्वप्नदृष्टान्त ठीक ही हुआ।

प्रकृत ग्रन्थ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली भी एकजीववादका ही प्रतिपादक है। वेदान्तशास्त्रमें एकजीववादका इसके जोड़का दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रन्थके रचयिता परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी प्रकाशानन्दजीने भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्यजीके मतका ही प्रतिपादन किया है। इनके मतमें आचार्यके सिद्धान्तकी अपेक्षा कुछ वैलक्षण्य है। उपादान कारणके विषयमें शङ्कराचार्यानुयायी सभी विद्वानोंमें कुछ-कुछ मतभेद है। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनिके मतमें ब्रह्म ही जगत्का उपादान है; लेकिन, कूटस्थ ब्रह्म स्वाभाविकरूपसे कारण नहीं हो सकता। इससे सुतरां यह सिद्ध हुआ कि मायाशबलित ब्रह्म ही जगत्का उपादान है।

वाचस्पतिमिश्रके मतमें ब्रह्म ही उपादान कारण है। परन्तु पूर्व मतसे इस मतमें यह विशेष है कि ब्रह्म जीवाश्रित अज्ञानका विषय होकर जगदाकारमें विवर्तित है और माया सहकारीमात्र है अर्थात् द्वार कारण है।

इस ग्रन्थके प्रणेता प्रकाशानन्द कहते हैं कि मायाशक्ति ही जगत्के प्रति उपादान कारण है, ब्रह्म नहीं। जो लोग ब्रह्मको जगत्के प्रति उपादान कारण मानते हैं, वे भी मायाशक्तिका अधिष्ठान होनेसे ही ब्रह्ममें औपचारिक रूपसे जगदुपादानत्व मानते हैं।

शास्त्रदर्पणकार अमलानन्द दृष्टिसृष्टिवादी हैं। उनके मतमें दृष्टिकालिक सृष्टि है। प्रकाशानन्द भी दृष्टिसृष्टिवादी ही हैं। परन्तु स्वामी अमलानन्दसे इनका मतभेद है। प्रकाशानन्दसरस्वतीके मतमें दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, कारण कि दृश्यकी अपेक्षा सृष्टिभेदमें प्रमाण नहीं है। स्मृतिने भी इसी प्रकार प्रतिपादन किया है—

ज्ञानस्वरूपमेवाहुः जगदेतद्विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्तोऽन्ये कुदृष्टयः॥

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि—दृष्टिसृष्टिवाद प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि इसमें जगत्प्रपञ्चकी प्रातिभासिकता, आकाशादि सृष्टिका अपलाप, कर्मोपासना और कर्मोपासनासे प्राप्त होनेवाले ब्रह्मलोक आदिका विलोप प्रसक्त होगा।

जाग्रत्कालमें चक्षु आदि कारणोंकी सहायतासे जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे इस मतमें भ्रमरूप ही माने जाते हैं। इससे दृष्टिसृष्टिवाद समीचीन नहीं है। श्रुति द्वारा प्रदर्शित परमेश्वरसृष्ट विश्वकी, अज्ञातसत्तायुक्त तत्-तद्विषयक प्रमाणोंके उपस्थित होनेपर, दृष्टि ही सृष्टिदृष्टिवाद है। सृष्टिदृष्टिवादमें जगत्की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, किन्तु व्यावहारिक सत्ता है। सिद्धान्तमुक्तावलीकार पारमार्थिक दृष्टिसे दृष्टिसृष्टिवादके पक्षपाती हुए।

आचार्य चित्सुख प्रभृति सृष्टिदृष्टिवादी हैं। इस सृष्टिका कल्पक कौन है? निरुपाधिक आत्मा या अविद्योपाधिक आत्मा? जब विश्व ज्ञानविषय होता है तब उसकी व्यावहारिक सत्ताका अपलाप नहीं किया जा सकता। इस परिस्थितिमें इसका कोई-न-कोई कल्पक चाहिए। निरुपाधिक आत्मा कल्पक नहीं हो सकता, कारण कि ऐसा माननेसे मोक्ष और संसारनिवृत्ति नहीं होगी। इसलिए अविद्योपहित आत्मा ही संसारका कल्पक माना गया है। जगत्के कल्पित होनेपर सुतरां दृष्टिसृष्टिवाद ही संगत होता है।

संसारकी कल्पनाको जो लोग मिथ्या कहते हैं उनके समीप कल्पनाका कोई मूल्य नहीं है। और जो उसे मिथ्या नहीं मानते, उनके मतमें कल्पना असत्य हो ही नहीं सकती। मिथ्याको सत्य मानना ही अविद्या है। सुतरां अविद्योपहित आत्मासे कल्पित या सृष्ट जगत् पारमार्थिक दृष्टिसे असत्य ही है। ज्ञानोदयसे सृष्टिके मिथ्यात्वका निश्चय होता है, क्योंकि जो सत्य है उसमें मिथ्यात्व किसी काल या देशमें हो ही नहीं सकता। ज्ञान होनेपर अज्ञान किसी कालमें भी नहीं रह सकता, ऐसी अवस्थामें प्रकाशानन्दका दृष्टिसृष्टिवाद ही सुन्दर है। पारमार्थिक दिशाकी ओर विशेष जोर देनेके लिए वे दृष्टिसृष्टिवादी हुए, ऐसा जान पड़ता है।

प्रकाशानन्दसरस्वतीका दूसरा नाम मल्लिकार्जुनयतीन्द्र भी था। इनके गुरुका नाम आचार्य ज्ञानानन्द था। इनके दो शिष्य थे—नाना दीक्षित और महादेवसरस्वती। नाना दीक्षितने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीपर विस्तृत और गम्भीर टीका लिखी है। उन्होंने ग्रन्थारम्भमें स्वामी प्रकाशानन्दसरस्वतीको इस प्रकार प्रणाम किया है—

विश्वेशं ढुण्ढिराजं जगदुदयकृतं शारदां सूत्रकारं
व्यासं चाचार्यवर्यं त्रिभुवनविदितं शङ्करं भाष्यकारम्।

आनन्दान्तप्रकाशानुभवपदपदं सद्गुरुं श्रीनृसिंहं
वन्दे विद्यानिधानं शमदमनिरतं राघवेन्द्रं यतीन्द्रम् ॥१॥

यच्छिष्यशिष्यसन्दोहव्याप्ता भारतभूमयः ।
वन्दे तं यतिभिर्वन्द्यं प्रकाशानन्दमीश्वरम् ॥२॥

यह टीका सं० १९५० में लिथोमें बनारसमें छपी थी और संक्षेप कर पं० जीवानन्द विद्यासागर बी० ए० ने कलकत्तेमें इसीका मुद्रण कराया था। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीके टीकाकार नानादीक्षित काशीके ही निवासी थे, यह बात इस ग्रन्थके अन्तिम श्लोकसे प्रतीत होती है। किंवदन्ती है कि प्रकाशानन्द सरस्वती भी काशीनिवासी एवं अपने जमानेके विख्यात विद्वान् थे।

यद्यपि इनका आविर्भाव काल ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है तथापि यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि ये १५ वीं शताब्दीमें आविर्भूत हुए थे।

ये अप्पयदीक्षितके पूर्ववर्ती थे, क्योंकि अप्पयदीक्षितने सिद्धान्तलेशमें वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीके मतका उल्लेख किया है और विद्यारण्यसे परवर्ती थे, कारण कि कहीं-कहीं इन्होंने अपने ग्रन्थमें पञ्चदशीके उदाहरणोंका उल्लेख किया है, ऐसा प्रतीत होता है। 'दशमस्त्वमसि' यह उदाहरण पञ्चदशीसे गृहीत हुआ है और वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीमें प्रकाशानन्दने लिखा है कि 'लौकिकस्यापि वाक्यस्य दशमस्त्वमसीत्यादेरात्मन्यपरोक्षज्ञानजनकस्यैव दृष्टत्वात्'। त्रिविधभेदके खण्डनके प्रसंगमें खण्डनखण्डखाद्यकारकी युक्तियोंके साथ इसका सादृश्य दीख पड़ता है। वाचस्पति और विवरणकारके मतका भी स्थलविशेषमें अनुवाद किया गया है। इन सब प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि प्रकाशानन्द विद्यारण्य आदि आचार्योंके परवर्ती और आचार्य अप्पयदीक्षितके पूर्ववर्ती थे; इससे प्रकाशानन्दका जीवनकाल १५वीं शताब्दी सिद्ध होता है। प्रकाशानन्दने श्रुति द्वारा आत्मस्वरूपके ज्ञात होनेपर ग्रन्थरचना की, यह बात उन्होंने मुक्तावलीके प्रारम्भमें लिखी है—

अदृष्टद्वयमानन्दमात्मानं ज्योतिरव्ययम् ।
विनिश्चित्य श्रुतेः साक्षाद् युक्तिस्तत्राभिधीयते ॥

ग्रन्थ लिखकर वे कृतकृत्य हुए, यह बात भी ग्रन्थकी समाप्तिके प्रथम श्लोकमें देखी जाती है—

प्रकाशानन्दयतिना कृतिना स्वात्मशुद्धये ।
सिद्धान्तमुक्तावल्येषा रचिता रन्ध्रवर्जिता ॥

यह ग्रन्थ उन्होंने नारायणके चरणमें समर्पित किया है, इसका भी कवितापूर्वक ग्रन्थसमाप्तिमें उन्होंने वर्णन किया है—

अद्वैतानन्दसन्दोहा सत्यज्ञानादिलक्षणा ।
नारायणसमासक्ता श्रिया सापत्न्यदूषिता ॥

अद्वैतानन्द समूहयुक्त सत्य और ज्ञानादिस्वरूप दोषवर्जित सिद्धान्तरूपी मोतियोंकी यह माला नारायणके कण्ठमें समर्पित है । जिसने लक्ष्मीके साथ सापत्न्यरूप दोषका त्याग कर दिया है । इस प्रकार प्रकाशानन्दने अपने ग्रन्थकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है । इतना कहकर भी वे श्रान्त नहीं हुए । परन्तु विशेषरूपसे उन्होंने कहा है कि उनका ग्रन्थ अनुभवके बलसे रचित है, अतएव वह सबके अज्ञानान्धकारका नाश करेगा । और वादियोंके मतका भी सुचारुरूपसे खण्डन करेगा । इस विषयमें वे कहते हैं—

शृणु प्रकाशरचितां सद्वैततिमिरापहाम् ।
वादीभकुम्भनिर्भेदे सिंहदंष्ट्राधरीकृताम् ॥

एक श्लोकमें उन्होंने उस समयकी अवस्थाका वर्णन किया है । वे कहते हैं कि उस समयके लोग वेदान्तरहस्यको नहीं जान सकते थे । प्रतीत होता है कि उन्होंने यहांपर द्वैती और विशिष्टाद्वैतियोंके प्रति संकेत किया है । भगवान्‌की प्रेरणासे यह ग्रन्थ लिखा है—

वेदान्तसारसर्वस्वमज्ञेयमधुनातनैः ।
अशेषेण मयोक्तं तत्पुरुषोत्तमयत्नतः ॥

Catalogus Catalogorum से ज्ञात होता है कि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीके सिवा इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ भी बनाये थे—

(१) ताराभक्तितरङ्गिणी,
(२) महालक्ष्मीपद्धति,
(३) श्रीविद्यापद्धति,

(४) और इनके विद्यागुरु सुभगानन्द द्वारा आरब्ध तन्त्रराजकी टीका मनोरमाके अवशिष्टांशकी पूर्तिकर ये यशस्वी हुए थे, यह बात भी इसी Catalogus Catalogorum में लिखी हुई है।

अब हम अधिक विस्तार न कर जिन महानुभावोंने इसके संशोधन, सम्पादन आदिमें परिश्रम किया है, उन्हें हार्दिक धन्यवाद देकर यहींपर विरत होते हैं। इति शम्

गवर्नमेन्ट हाई स्कूल फतेहगढ़
वसन्त पञ्चमी सं० १९९२

प्रेमवल्लभ त्रिपाठी

॥ श्रीः ॥

सिद्धान्तमुक्तावलीकी विषय-सूची

ॐ

नमः कृष्णाय

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली

[भाषानुवादसहिता]

अदृष्टद्वयमानन्दमात्मानं ज्योतिरव्ययम् ।
विनिश्चत्य श्रुतेः साक्षात् युक्तिस्तत्राऽभिधीयते ॥१॥

तत्रादौ मङ्गलं तत्त्वानुस्मरणरूपं सूचयन्नभिधेयप्रयोजने साक्षात् प्रतिपाद्य कर्त्तव्यं प्रतिजानीते—अदृष्टेत्यादिना। आत्मानमुक्तविशेषणचतुष्टय-

---

विकाररहित, आनन्दघन, प्रकाशस्वरूप और द्वैत मिथ्या प्रपञ्चके लेशसे शून्य आत्माका श्रुतिसे साक्षात्कार कर उसमें युक्ति (श्रुत्यनुकूल तर्क) कही जाती है ॥ १ ॥

ग्रन्थके प्रारम्भमें [शिष्टाचार प्राप्त] तत्त्वानुस्मरणरूप मङ्गलको सूचित करते हुए ग्रन्थकार अभिधेय[2] और प्रयोजनको साक्षात् कह कर 'अदृष्टम्'

---

(१) इस श्लोकमें देह आदिसे आत्माकी व्यावृत्ति (पृथक्ता) करनेके लिए 'अव्ययम्' पद दिया है। आत्मामें प्रमाणकी प्रवृत्ति माननेमें अनात्मत्वदोष प्राप्त होता एवं प्रमाणकी अप्रवृत्ति माननेमें आत्माके असत्त्वका प्रसंग आता, अतः उक्त दोषोंकी व्यावृत्तिके लिए 'ज्योतिः' पद दिया है। आत्मा ही एक पुरुषार्थ है इस बातको दिखलानेके लिए 'आनन्दम्' विशेषण दिया है। सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद दूर करनेके लिए एवं प्रपञ्चको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए 'अदृष्टद्वयम्' पद दिया है। 'श्रुतेः विनिश्चित्य' कहनेसे ही आत्मामें श्रुतिप्रमाणकत्वके सिद्ध हो जानेपर भी साक्षात् पदका उपादान श्रुति अपरोक्ष ज्ञानकी करण है, यह दर्शानेके लिए किया है—यद्यपि अन्य दर्शनोंने इन्द्रियजन्य ज्ञानको अपरोक्ष माना है और शब्दजन्य ज्ञानको परोक्ष माना है, तथापि वेदान्त दर्शनने शब्दजन्य ज्ञानको भी विषयसन्निकृष्ट स्थलमें अपरोक्ष माना है। जैसे—'दशमस्त्वमसि' इत्यादि।

(२) ग्रन्थके आरम्भमें सर्वत्र चार अनुबन्ध दिखलाये जाते हैं, क्योंकि इस ग्रन्थका

विशिष्टं श्रुतितोऽपरोक्षीकृत्य तत्रोक्तविशेषणचतुष्टयविशिष्टे आत्मनि युक्तिः– श्रुत्यनुग्राहकस्तर्कोऽभिधीयते इत्यन्वयः ।

ननु आत्मसाक्षात्कारे श्रुत्यपेक्षैव नाऽस्ति, देहादेरेवाऽऽत्मत्वात्, तस्य च लौकिकप्रत्यक्षादिसिद्धत्वादिति चेत्, नः

आत्मा नित्योऽथवाऽनित्यो भेदस्त्वाद्ये स्फुटो मतः ।
अन्त्ये कृतस्य हानिः स्यादकृताभ्यागमस्तथा ॥ २ ॥

आत्मनो नित्यत्वात्, जगद्वैचित्र्यस्याऽदृष्टहेतुकत्वात्, अन्यथा

इत्यादिसे कर्तव्य विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं । पूर्वोक्त अव्यय आदि चार विशेषणोंसे युक्त आत्माका श्रुतिसे साक्षात्कार कर उक्त चार विशेषणोंसे विशिष्ट आत्मामें युक्ति (श्रुति-अनुग्राहक तर्क) कही जाती है, इस प्रकार श्लोकका अन्वय है ।

वादी—आत्माका साक्षात्कार करनेमें श्रुतिकी कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि शरीर आदि ही आत्मा है [तात्पर्य यह है कि ज्ञानका आश्रय आत्मा है, इसमें तो कोई विवाद ही नहीं है । 'अहं मनुष्यः' यह सबको प्रतीत होता है । ऐसी अवस्थामें 'अहम्' चैतन्यका मनुष्यत्व जातिवाले शरीरके साथ धर्मधर्मित्वकी प्रतीति होनेसे ज्ञान देहका धर्म है, अतः शरीर ही आत्मा है] वह लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है ।

सिद्धान्ती—देह, इन्द्रियाँ आदि आत्मा नहीं हो सकते, देखिये—

आत्मा नित्य है अथवा अनित्य ? प्रथम पक्षमें भेद है, अन्तिम पक्षमें कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष होंगे ॥२॥

आत्मा नित्य है, [देहादि अनित्य हैं इसलिए देह आदि आत्मा नहीं हो सकते । परन्तु देहात्मवादीके प्रति आत्माको नित्य कहना असिद्ध है, अतः उसकी नित्यता सिद्ध करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'जगद्वैचित्र्यस्य' इत्यादि ग्रन्थसे]

क्या अभिधेय है, क्या प्रयोजन है, कौन इसका अधिकारी है और अभिधेयसे ग्रन्थका क्या सम्बन्ध है ? इन चार अनुबन्धोंको जाने विना ग्रन्थमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः आनन्दादि पदसे अनुबन्ध दिखलाते हैं । प्रकृत ग्रन्थमें आनन्द ही प्रयोजन है, युक्ति अभिधेय है, उभयकी (स्वबुद्ध्यतिशय और आनन्दानुभवकी) कामना करनेवाला पुरुष अधिकारी है और प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव आदि सम्बन्ध है ।

वैचित्र्यानुपपत्तेः, दृष्टस्य क्षणविनाशित्वात्, अदृष्टस्य च पूर्वजन्मसम्बन्धित्वेन तदाश्रयस्याऽऽत्मनोऽनादित्वात्। अनादिभावस्य च नित्यत्वनियमात् अन्यथाकृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गात् देहादेश्च विकारजातस्याऽनित्यत्वकृतकत्वरूपवत्त्वजडत्वपरिच्छिन्नत्वादिभिरनात्मत्वनिश्चयात्। तस्य च नित्यस्याऽऽत्मनो 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' इत्यादिश्रुतिसिद्धस्याऽपरोक्षीकरणे द्वारान्तराभावात् अस्त्येव श्रुत्यपेक्षा इत्यभिप्रेत्य उक्तम्—

संसारमें कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई विद्वान् है और कोई मूर्ख है इत्यादि वैचिश्यसे जगत्की विचित्रतामें तो कोई विवाद ही नहीं है। इस विचित्रताका कारण भी विचित्र ही होना चाहिए, नहीं तो कार्यकी विचित्रता नहीं होगी। ऐसी दशामें विचित्रताका कारण केवल अदृष्ट (धर्माधर्म) हो सकता है *। दृष्ट कारण नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्ट क्षणविनाशी है और अदृष्ट है पूर्वजन्मसम्बन्धी, इसीसे उस अदृष्टका आश्रय आत्मा भी अनादि है। और यह एक नियम है कि अनादि भाव (पदार्थ) नित्य होता है, इसलिए आत्माकी नित्यता सिद्ध हुई। यदि ऐसा न माना जाय तो किये हुए कर्मोंकी हानि और न किये हुए कर्मोंकी प्राप्ति 'अर्थात् कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष उपस्थित होंगे। विकारजन्य देह आदिका तो अनित्यत्व, कृतकत्व, रूपवत्त्व, जडत्व, परिच्छिन्नत्व आदि हेतुओंसे अनात्मत्व निश्चित है। 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध उस आत्माका साक्षात्कार करनेमें और कोई भी साधन नहीं है, इसलिये श्रुतिकी आवश्यकता है। इसी आशय-

---

* इदं जगत् विचित्रकारणकम्, विचित्रकार्यत्वात्, विचित्रपटवत्; यह अनुमान जगत्की विचित्रताका साधक है।

शङ्का—विचित्रकार्य क्रियाजन्य होता है और क्रिया देहसे जन्या होती है, देहमें क्रिया रहती है, तो देह ही क्रियाके द्वारा सुखादिका जनक हुआ। वही आत्मा है। वही आत्माका कारण है, अदृष्ट कारण नहीं हो सकता।

समाधान—दृष्ट क्रियाका शीघ्र नाश हो जाता है फिर वह कालान्तरमें होनेवाले सुखादि की साक्षात् कारण कैसे हो सकती है, किन्तु अदृष्ट ही कारण हो सकता है।

शङ्का—शरीर और अदृष्ट परस्पर सापेक्ष हैं, अर्थात् शरीरसे अदृष्ट अदृष्टसे शरीर होता है, ऐसी अवस्थामें अन्योन्याश्रय दोषकी प्राप्ति होगी।

समाधान—शरीर और अदृष्ट दोनों बीजाङ्कुरके समान अनादि हैं, इसलिये उक्त दोष का प्रसंग नहीं है।

अव्ययमिति। न विद्यते व्ययो विनाशो धर्मतः स्वरूपतोऽवयवतो वा यस्य स तथा। निरवयवनिर्धर्मकः कूटस्थनित्यः परिपूर्ण इत्यर्थः।

ननु आत्मनि प्रमाणमस्ति न वा? न चेत्, तस्याऽसत्त्वापत्तिः; नहि प्रमाणविरहिणो नरशृङ्गादेः सत्त्वं पश्यामः। आद्ये, तत् किं लौकिकं वेदो वा? नाऽऽद्यः, तस्य निर्धर्मकत्वात् इन्द्रियाणाञ्च रूपादिमत्-परागवस्तुविषयत्वेन तद्व्याप्तहेतोः अनिश्चयेन अनुमानाविषयत्वात्। प्रत्य-

---

से मूलमें [प्रथम कारिकामें] 'अव्ययम्' कहा है। जिसका धर्मसे, स्वरूपसे या अवयवसे विनाश नहीं होता, वह अव्यय कहलाता है, अर्थात् जो निरवयव, निर्धर्मक, कूटस्थनित्य, परिपूर्ण है; वही आत्मा है।

वादी—आत्मामें कोई प्रमाण है या नहीं? यदि नहीं है, तो आत्मा असत् हो जायगा, क्योंकि जैसे प्रमाणके अभावसे मनुष्यशृङ्गकी सत्ता नहीं देखी जाती, वैसे ही आत्मा भी असत् हो जायगा। यदि प्रमाण है तो क्या लौकिक प्रमाण है या वैदिक? लौकिक प्रमाण तो हो नहीं सकता, क्योंकि लौकिक प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द भेदसे तीन प्रकार का है। इन तीन भेदोंमें से प्रत्यक्षका विषय तो आत्मा है नहीं, क्योंकि आत्मा यावत्धर्मशून्य है और प्रत्यक्ष रूपादिवाले पदार्थोंको ही विषय कर सकता है। जैसे कि चक्षु रूपवालेमें ही प्रवृत्त होता है, नीरूपमें वह प्रवृत्त नहीं होता। अन्यथा वायुका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने लगेगा। इसलिए इन्द्रियाँ रूपादिवाले स्थूल पदार्थोंको विषय करती हैं, आत्माको विषय नहीं करतीं। इसी प्रकार आत्मा अनुमानका भी विषय नहीं है, क्योंकि आत्मग्राहक हेतु वही होगा जो आत्मासे व्याप्त हो, उसकी ग्राहक इन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं। इसलिये आत्मव्याप्त हेतुके निश्चित न होनेसे आत्मा अनुमानका विषय भी नहीं है *। एवं प्रत्यक्षादिका विषय न होनेसे लौकिक वाक्यका भी विषय

---

* प्रश्न—अनुमानसे आत्माकी सिद्धि क्यों नहीं होती? जहांपर अन्वयी हेतुसे साध्यकी सिद्धि करनी होती है, वहाँ तो साध्यव्याप्त हेतुका निश्चय अङ्ग माना जाता है और जहांपर केवल व्यतिरेकी हेतुसे साध्यकी सिद्धि करनी होती है, वहां व्यतिरेक व्याप्तिका निश्चयमात्र ही अङ्ग माना जाता है। तब तो 'चेष्टावत् शरीरं सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, इत्यादि रीतिसे आत्मसिद्धि हो सकती है।

उत्तर—प्रतियोगीके ज्ञानके विना अभावका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि जैसे वह्नि-ज्ञानके बिना

क्षाद्यविषयत्वेन लौकिकवाक्याविषयत्वात्, तदन्यविषयत्वस्य सम्भावयितुमशक्यत्वात्। द्वितीयेऽपि वेदजन्यज्ञानभास्यत्वं वा प्रकारान्तरेण भासमानस्य वैदिकज्ञाननिवर्त्याऽज्ञानविषयत्वं वा ? आद्ये वेदजन्यज्ञानभास्यत्वेन घटादिवज्जडत्वादनात्मत्वापत्तिः। द्वितीये किं तत्प्रकारान्तरम् ? स्वयं मानान्तरं वा ? चरमे दोषस्योक्तत्वात्। आद्यः परिशिष्यते। तच्च न सम्भवति, स्वयंप्रकाशमानस्य अज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः। नहि स्वयंप्रकाशमानस्वरूपे मध्यन्दिनवर्तिन्यादित्ये तमः सम्भावयितुमपि शक्यम्।

अत्र केचिद् बन्धमोक्षादिव्यवस्थामाश्रित्य श्रुतिसिद्धमपि अद्वैतं सङ्कोचयन्तः आत्मनोऽज्ञानविषयत्वमसहमानाः प्रत्यवतिष्ठन्ते।

आत्मा नहीं है। इन प्रमाणोंसे अतिरिक्त उपमानादिका विषय आत्मा होगा इस बातकी तो संभावना (कल्पना) भी नहीं हो सकती। यदि कदाचित् कहिये कि वैदिक प्रमाणका विषय आत्मा है, तो प्रष्टव्य यह है कि आत्मा वेदजन्यज्ञानसे भास्य (प्रकाश्य) है या प्रकारान्तरसे भासमान आत्मा वैदिक ज्ञानसे विनष्ट होनेवाले अज्ञानका विषय है ? प्रथम पक्षमें वेदजन्य ज्ञानसे भास्य होनेसे घटादिके समान आत्मा भी जड़ हो जायगा। दूसरे पक्षमें आत्मा प्रकारान्तरसे भासमान कहा गया है, सो प्रकारान्तर क्या है ? स्वयंभासमान है, या प्रमाणान्तरसे भासमान है ? अन्तिम पक्षमें तो फिर वही दोष ज्यों-का-त्यों रहा अर्थात् परप्रकाश्य होनेसे आत्मा जड़ हो जायगा। अब रहा पहला पक्ष, वह यह कि आत्मा स्वयंप्रकाशमान है, यह भी असम्भव है, क्योंकि स्वयंप्रकाशमान पदार्थ अज्ञानका विषय नहीं हो सकता। जैसे स्वयंप्रकाशमान मध्याह्नवर्ती सूर्यमें अन्धकारकी सम्भावना नहीं हो सकती, वैसे ही स्वयंप्रकाशरूप आत्मामें भी अज्ञानकी कल्पना नहीं हो सकती।

यहाँपर मण्डनमिश्रके मतानुयायी कोई लोग बन्धमोक्षकी व्यवस्थाको लेकर श्रुतिसिद्ध भी अद्वैतको संकुचित करते हुए और आत्माकी आज्ञानविषयताका सहन न करते हुए कहते हैं।

वह्निका अभाव जान लेना संभव नहीं है, वैसे ही आत्माके ज्ञान के विना उसके अभावकी लिङ्गाभावके साथ व्याप्तिका ग्रहण कैसे होगा ? और पूर्वोक्त अनुमानसे आत्माकी सिद्धि करनेमें अन्योन्याश्रय भी अनिवार्य है, इसलिए आत्मा अनुमानका विषय नहीं है।

जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्त्वविन्मता ।
तद्विरुद्धमिदं वाक्यमात्मा त्वज्ञानगोचरः ॥३॥

ननु आत्मशब्देन जीवः कथ्यते, स च अज्ञानस्य आश्रयः, न तु विषयः; विषयत्वं तु ब्रह्मण एव । स च जीवोऽनेकः, अन्यथा व्यवहारानुपपत्तिः । यस्य तु श्रवणाद्यभ्यासपाटवेन ब्रह्मात्मावबोधस्तस्य मोक्षः, तदितरस्य बन्ध इति । अत एव अज्ञानानि अनेकानि कल्प्यन्ते । अन्यथा अज्ञानस्य एकत्वे एकज्ञानेन अज्ञानतत्कार्यस्य कृत्स्नस्य निवृत्तौ प्रत्यक्षादिसिद्धस्य जगतोऽननुभवप्रसङ्गः । न च एतावता कालेन कस्यापि ज्ञानं न जातम् इति साम्प्रतम्, प्राचीनानां सम्यक्साङ्गोपाङ्गसाधनानुष्ठातॄणां व्यासवसिष्ठादीनामपि ज्ञानानुत्पत्तौ इदानीन्तनानां ज्ञानोत्पत्तेः सम्भावयितुमपि अशक्यत्वेन श्रवणाद्यप्रवृत्तौ अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।

तत्त्वज्ञ पुरुषोंने कहा है कि जीव अविद्याका आश्रय है अर्थात् अविद्या जीवनिष्ठ है और ब्रह्मको विषय करनेवाली है अतः इस कथनके विरुद्ध 'आत्मा त्वज्ञानगोचरः' यह वाक्य है ॥ ३ ॥

एकदेशी—आत्मशब्दसे जीव कहा जाता है । वह जीव अज्ञानका आश्रय (स्थान) है, विषय नहीं है । अज्ञानका विषय तो ब्रह्म ही है । जीव अनेक हैं, एक नहीं । यदि एक ही जीव माना जाय, तो व्यवहार नहीं बनेगा । क्योंकि अनेक जीव माननेसे श्रवण, मननादिके अभ्यासकी दृढ़तासे जिसको ब्रह्मात्मसाक्षात्कार हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है और जिसको साक्षात्कार नहीं होता, वह बद्ध रहता है । इस प्रकार बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था ठीक बन जाती है । इसीलिये अनेक अज्ञानोंकी कल्पना की जाती है । यदि अज्ञान अनेक न माने जायँ, तो अज्ञानोंके एक होनेपर एक ही ज्ञानसे कार्यसहित समस्त अज्ञानकी निवृत्ति हो जायगी । ऐसी अवस्थामें प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध जगत्का अनुभव न होना चाहिये । यदि कहिये कि आजतक किसीको ज्ञान हुआ ही नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अच्छी तरह विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग (अर्थात् शम, दमादि और श्रवण, मननादि) साधनोंका अनुष्ठान करनेवाले प्राचीन व्यास, वसिष्ठादिको भी यदि ज्ञान उत्पन्न न हुआ तो आधुनिक पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही नहीं हो सकती ।

ननु व्यवस्थानुरोधेन अज्ञानभेदकल्पनावत् प्रत्यक्षादिप्रमाणानुरोधेन सत्यमेव द्वैतं किन्न स्यादिति चेत्, तन्न वक्तव्यम्।

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां प्रमात्वं परतो यदि।
अनवस्था स्फुटा तत्र स्वतस्त्वे दोषसंशयः ॥४॥

किमिदं प्रत्यक्षादेः प्रामाण्यं व्यवहारसमर्थार्थविषयत्वं वा सर्वथा अबाधितार्थविषयत्वं वा? आद्ये कल्पितार्थत्वेनाऽपि अविरोधः। अन्त्ये तत्किं स्वतः परतो वा? नाऽऽद्यः, प्रत्यक्षादेः सम्भावितदोषत्वेन स्वप्रामाण्यं प्रति दोषाभावग्राहकप्रमाणान्तरसापेक्षत्वेन स्वतस्त्वाभावात्। नाऽपरः, गृहीतप्रामाण्यस्य प्रामाण्यनिश्चायकत्वे अनवस्थानात्। अगृहीत-

---

तब तो श्रवणादिमें किसीकी भी प्रवृत्ति न होगी, अतः अनिर्मोक्षका (मोक्ष न होनेका) प्रसङ्ग हो जायगा।

शङ्का—जैसे आपने व्यवस्थाके अनुरोधसे अनेक अज्ञानोंकी कल्पना की है, वैसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अनुरोधसे द्वैत भी सत्य क्यों न हो?

एकदेशी—इसपर हमको कहना है, सुनिये—

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें यदि परतः प्रामाण्य है तो अनवस्था साफ है और यदि उनमें स्वतः प्रामाण्य है तो दोषका सन्देह है ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षादिमें प्रामाण्य किस तरहका है अर्थात् प्रत्यक्ष आदि किस तरह प्रमाण हैं? क्या व्यवहारयोग्य घट आदि वस्तुओंको विषय करना ही उनके प्रामाण्यका प्रयोजक है या सर्वथा अबाधित अर्थको विषय करनेसे वे प्रमाण कहे जाते हैं? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि कल्पित वस्तु (शुक्तिरजत) भी व्यवहारसमर्थक है—क्योंकि शुक्तिरजतमें भी प्रवृत्तिरूप अर्थव्यवहारकी सामर्थ्य देखनेमें आती है। रहा दूसरा पक्ष, उसमें भी यह प्रष्टव्य है कि प्रत्यक्ष आदिमें अबाधितार्थविषयत्वरूप प्रामाण्यका ग्रह स्वतः है या परतः? इसमें भी पहिला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रत्यक्षादिज्ञानं दोषवत्करणजन्यम्, जन्यज्ञानत्वाविशेषात्, भ्रमवत्', इत्यादि अनुमानसे प्रत्यक्ष ज्ञानमें भी भ्रम ज्ञानके तुल्य इन्द्रिय-जन्य होनेसे दोष की सम्भावना हो सकती है। अतः स्वप्रामाण्यके लिये दोषा-भावग्राहक अन्य प्रमाणकी अपेक्षा होनेसे, उसमें स्वतस्त्वका (स्वतः प्रामाण्यका) ग्रह

प्रामाण्यस्य तथात्वे प्रामाण्यनिश्चयस्य वैयर्थ्यात् प्रथमेनैव विषयनिश्चयात्। किञ्च, 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' इति च प्रतिपन्नोपाधौ निषिद्ध्यमानत्वमायाप्रकृतित्वाभ्यां कृत्स्नस्य जगतो मिथ्यात्वप्रदर्शनेन तद्विषयस्य प्रत्यक्षादेरप्रामाण्यस्य श्रुत्यैव दर्शितत्वात्।

नहीं हो सकता। अब रहा दूसरा पक्ष, सो परतः प्रामाण्य मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य प्रमाणसे प्रमाणित है प्रामाण्य जिसका उससे प्रत्यक्ष-प्रामाण्यका निश्चय करनेमें अनवस्था दोष आता है*। और यदि स्वप्रामाण्यका ग्रहण किये बिना ही द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय कराता है, तो प्रथम ज्ञानके प्रामाण्यका निश्चय कराना व्यर्थ है, क्योंकि विषयका निश्चय प्रथमसे हो गया; यदि किसी तरहसे प्रामाण्यका ग्रहण हो भी जाय, तो भी सर्वथा अबाधितार्थकत्वरूप प्रामाण्यका प्रत्यक्षादिमें सम्भव नहीं होता, क्योंकि श्रुतिने ही इसका खण्डन किया है—'नेह नानास्ति किञ्चन' (यहाँ नाना वस्तु कुछ भी नहीं है) 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' (माया ही जगत् की प्रकृति है) इत्यादि श्रुतियोंने प्रतिपन्न उपाधि अधिष्ठान ब्रह्ममें निषिद्ध्यमानत्व और मायाप्रकृतित्वसे समस्त जगत्का मिथ्यापन दिखलाया है। इससे जगत्को विषय

---

* तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी प्रमाणता अपने विषय (घटादि) के निश्चयके लिए गृहीत होती है। ऐसी दशामें वह ज्ञानकी प्रमाणता स्वाश्रय भिन्नसे ग्राह्य होगी। अब पूछना यह है कि वह प्रामाण्यग्राहक ज्ञेय है, या ज्ञान है? ज्ञेय तो प्रामाण्यग्राहक हो नहीं सकता, क्योंकि जड़ होनेसे वह प्रकाशक नहीं हो सकता। दूसरे पक्षमें भी प्रष्टव्य यह है कि प्रथम ज्ञानकी प्रमाणताका ग्राहक जो दूसरा ज्ञान माना गया है, वह अपनेमें प्रमाणताका ग्रहण करके ही स्वविषय जो प्रथम ज्ञान है उसकी प्रामाणताका निश्चय करता है या अपनी प्रमाणताका ग्रहण किये बिना ही प्रथम ज्ञानके प्रमाण्यका निश्चय करता है? प्रथम पक्षमें भी यह प्रश्न होता है कि प्रथम ज्ञान की प्रमाणताका ग्राहक जो द्वितीय ज्ञान है, उसकी प्रमाणताका ग्रहण किससे होता है; क्या स्वतः उसका ग्रहण होता है या ग्राह्य प्रामाण्यके आश्रय ज्ञानसे होता है अथवा तीसरे ज्ञानसे? अब इन तीनों पक्षोंमें से पहला पक्ष माना जाय, तो आत्माश्रय दोष आता है और स्वतः प्रामाण्यकी आपत्ति भी होती है। दूसरे पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष है। और यदि तीसरा पक्ष माना जाय, तो उसीसे प्रामाण्य ग्रहण करनेमें आत्माश्रय दोष हुआ। दूसरेसे इस तृतीय ज्ञानकी प्रमाणतामें अन्योन्याश्रय हुआ और प्रथम ज्ञानसे इसकी प्रमाणतामें चक्रकापत्तिरूप दोष हुआ। यदि इन दोषोंके परिहारके लिए चौथा ज्ञान मानें, तो अनवस्था दोष होगा।

तस्मात् व्यवस्थानुरोधेन 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति मायाभिरिति बहुवचनानुरोधेन च जीवाश्रयाणि ब्रह्मविषयाणि अनेकानि अज्ञानानि इति कथमात्मनोऽज्ञानविषयत्वं विकल्पितमिति संक्षेपः। अत्र वदन्ति—

जीवब्रह्मप्रयोगाभ्यामेकं वस्त्वथवा द्वयम्।
आद्ये त्विष्टं ममैव स्यात् द्वितीये त्वन्मतक्षतिः ॥५॥

जीवब्रह्मशब्दाभ्यामात्मैव उच्यते, उत जीवशब्देन आत्मा, ब्रह्मशब्देन

करनेवाले प्रत्यक्ष आदिकी अप्रमाणता श्रुतिने ही दिखलाई है*। इसलिए व्यवस्थाके अनुरोधसे और 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' यहाँपर 'मायाभिः' इस बहुवचनके अनुरोधसे जाना जाता है कि जीवरूप आश्रयमें रहनेवाले और अद्वितीय ब्रह्मको विषय करनेवाले अज्ञान अनेक हैं। फिर आत्मा अज्ञानका विषय है, ऐसी विरुद्ध कल्पना कैसे की गई है? [यहाँपर एकदेशीके मतका संग्रहश्लोक दिखाते हैं—

'अज्ञानं प्रतिजीवं स्यात् भिन्नं ब्रह्मपदश्च तत्।
बद्धमुक्तव्यवस्थातो ब्रह्म श्रौतश्च सिद्ध्यति ॥'

(अज्ञान प्रत्येक जीवमें भिन्न भिन्न है और वह ब्रह्मको विषय करता है, क्योंकि जीववादमें बद्ध और मुक्तकी व्यवस्था नहीं होगी, अतः श्रौत ब्रह्मकी सिद्धि होती है।)

यहाँ तक एकदेशीका मत दिखलाया,] अब इसका खण्डन करता हुआ पूर्वपक्षी सिद्धान्तीके मतको लेकर कहता है—

जीव एवं ब्रह्म पदसे एक वस्तुको लेते हो या दो वस्तुओंको ? प्रथम पक्षमें तो हमारे मतकी ही पुष्टि होती है और दूसरे पक्षमें तुम्हारे मतकी हानि होती है ॥५॥

जीव तथा ब्रह्म इन दो शब्दोंसे आत्माका ही ग्रहण होता है अथवा जीवशब्दसे आत्माका और ब्रह्मशब्दसे उससे भिन्न वस्तुका ? यदि

---

* प्रश्न—यदि जगत् मिथ्या होनेसे बाधित है, तो जो बाधित होता है, वह अज्ञानसे उत्पन्न माना जाता है, जैसे शुक्तिमें रजत अज्ञानसे उत्पन्न होता है और बाधित भी है। घटादि जगत् तो अज्ञानसे उत्पन्न नहीं है, किन्तु मिट्टी आदि उपादान कारणसे उत्पन्न है और घटादि-विषयक कुलालादिका ज्ञान उसमें निमित्त कारण है। फिर जगत् बाधित और मिथ्या कैसे हो सकता है?

उत्तर—अज्ञान ही मिट्टी आदि आकारसे परिणत होकर घटादिका उपादान है, इसलिए अज्ञानके नाशसे जगत्का बाध होना ठीक ही है।

तु तदन्यत्? इति। आद्ये कथमात्मनो नाऽज्ञानविषयत्वम् ब्रह्मशब्देनाऽपि तस्यैवाऽभिधानात्। ननु आत्मनोऽज्ञानविषयत्वे कथं तस्य भानम्? तमसा आवृतत्वात्। नहि अन्धकारावृतो घटो दृश्यते इति चेत्, नः अद्वयानन्दरूपेण एव तस्य अज्ञानविषयत्वात्, चैतन्यमात्रस्य एव भासमानत्वात्, तस्य च अज्ञानाविषयत्वाद्, अन्यथा अज्ञानस्याऽपि असिद्ध्यापत्तेः। अद्वयानन्दस्वरूपं चैतन्यमात्राद् अभिन्नमेव इति चेत्, सत्यम्; वस्तुतस्तथैव। कथन्तर्हि अज्ञानविषयत्वव्यवस्थेति चेत्, अनादिसिद्धाज्ञानसम्बन्धात्। स्वयम्प्रकाशपरिपूर्णानन्दस्वरूपेण भासमानेऽपि आत्मनि मिथ्यैव भेदं परिकल्प्य अद्वयानन्दस्वरूपस्य विषयत्वाभिधानम्, चैतन्यमात्रमेव भासते, न आनन्दस्वरूपमिति भ्रान्तप्रतीत्यनुरोधात्। कथमस्याः प्रतीतेः भ्रान्तत्व-

---

पहला पक्ष अभीष्ट है, तो आत्मा अज्ञानका विषय क्यों नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्मशब्दसे भी तो आत्माका ही अभिधान है।

प्रश्न—यदि आत्मा अज्ञानका विषय है, तो वह तमसे आच्छादित ठहरा, फिर उसका भान कैसे होता है? क्या कहीं अन्धकारसे ढका हुआ घट दिखाई देता है? कभी नहीं।

समाधान—यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि आत्मा अद्वयानन्दरूपसे ही अज्ञानका विषय है, चैतन्यरूपसे तो वह भी भासमान ही है और चैतन्यांश अज्ञानका विषय नहीं है। यदि चैतन्यांशको भी अज्ञानका विषय मानो तो अज्ञानकी सिद्धि ही नहीं होगी।

प्रश्न—अद्वयानन्द भी तो चैतन्यमात्रसे अभिन्न ही है।

समाधान—ठीक है, वास्तवमें तो ऐसा ही है।

प्रश्न—तब अज्ञानविषयत्वकी व्यवस्था कैसे होगी?

समाधान—अनादि कालसे सिद्ध अज्ञानके सम्बन्धसे व्यवस्था होगी अर्थात् स्वयंप्रकाश परिपूर्ण आनन्दस्वरूप आत्माके भासमान होनेपर भी मिथ्या भेदकी कल्पना कर अद्वयानन्द स्वरूप अज्ञानका विषय कहा गया है, क्योंकि 'चैतन्यमात्र ही भासता है, आनन्दस्वरूप नहीं भासता' इत्यादि भ्रान्त पुरुषोंको प्रतीति होती है।

प्रश्न—यह प्रतीति भ्रान्त कैसे है?

मिति चेत्, परप्रेमास्पदस्याऽऽत्मन आनन्दस्वरूपेण एव भासमानत्वादिति वदामः। तथापि परमार्थतोऽज्ञानस्य विषयाश्रययोर्भेदो न निरूपित इति चेत्, सत्यम्।

अविद्या स्वाश्रयाभिन्नविषया स्यात्तमो यतः।
यथा बाह्यं तमो दृष्टं तथा चेयं ततस्तथा ॥ ६ ॥

तस्य तमःशब्दवाच्यस्य तदनपेक्षत्वात्। नहि गृहोदरवर्त्ति तमः स्वाश्रयगृहान्तर्वर्त्तिदेशं न विषयीकरोति, येन तदतिरिक्तमपेक्षेत; अत एव न द्वितीयोऽपि। किञ्च,

ब्रह्मात्मनोर्विभिन्नत्वे भेदः स्वाभाविको यदि।
औपाधिकोऽथवा भेदः सर्वथाऽनुपपत्तिकः ॥ ७ ॥

समाधान--परम (निरतिशय) प्रेमका विषय जो आत्मा है वह आनन्द-स्वरूपसे ही भासमान है, यह हम कहते हैं।

प्रश्न--तो भी यथार्थरूपसे अज्ञानके आश्रय और विषयके भेदका निरूपण तुमने नहीं किया।

समाधान--ठीक है।

अविद्या अपने आश्रयको विषय करती है, क्योंकि वह तमोरूपा है, जैसे दृष्ट बाहरका अन्धकार अपने आश्रयको ही विषय करता है, वैसे ही अविद्यारूप अन्धकार भी अपने आश्रयको ही विषय करेगा ॥ ६ ॥

तमःशब्दवाच्य अज्ञान आश्रय तथा विषयके भेदकी अपेक्षा नहीं करता है। जैसे घरके भीतरका अन्धकार अपने आश्रयरूप घरके भीतरके देशको विषय न करे और उससे अतिरिक्तको विषय करे, यह बात नहीं है, किन्तु वह जिस आश्रयमें रहता है, उसीको विषय करता है, इसी प्रकार अज्ञानको भी समझो। इसीसे दूसरा पक्ष अर्थात् जीव और ब्रह्म शब्दसे भिन्न भिन्न वस्तुओंका ग्रहण करना भी ठीक नहीं है। और भी--

यदि ब्रह्म और आत्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं, तो उनका भेद स्वाभाविक है या औपाधिक? प्रथम पक्ष तो सर्वथा अयुक्त है ॥ ७ ॥

ब्रह्मात्मनोः स्वाभाविको भेदः, औपाधिको वा ? आद्ये आत्मभिन्नत्वेन ब्रह्मणो जडत्वापत्तिः। तथा च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिव्याकोपः, ब्रह्मणोऽज्ञानविषयत्वानुपपत्तिश्च। आत्मनश्च ब्रह्मभिन्नत्वे घटादिवदनात्मत्वापत्तिः। द्वितीयेऽपि उपाधिजन्यत्वम्, ज्ञेयत्वम्, तन्त्रत्वं वा औपाधिकत्वम् ?

ब्रह्म और आत्माका भेद स्वाभाविक है या औपाधिक? [प्रथम पक्षमें परस्पर भिन्न होनेसे दो भेद होंगे—एक तो आत्मप्रतियोगिक ब्रह्मनिष्ठ भेद और दूसरा ब्रह्मप्रतियोगिक आत्मनिष्ठ भेद। उक्त दो भेदोंमें से प्रथम भेदका खण्डन करते हैं—] यदि प्रथम पक्ष मानो, तो आत्मासे भिन्न होनेके कारण ब्रह्म जड़ हो जायगा। यदि कहो कि ब्रह्मका जड़ होना हमको इष्ट है, तो 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है) इस श्रुतिके साथ विरोध हो जायगा और ब्रह्म अज्ञानका विषय भी नहीं होगा। एवं ब्रह्म-प्रतियोगिक आत्मनिष्ठ भेद भी दूषित है। यदि आत्माको ब्रह्मभिन्न मानो, तो ब्रह्मभिन्न होनेसे आत्मा भी अनात्मा (जड़) हो जायगा; इसलिए जीव और ब्रह्मका भेद स्वाभाविक नहीं बनता। अब रहा औपाधिक भेद, उसमें भी यह प्रष्टव्य है कि औपाधिक शब्दका क्या अर्थ है? उपाधिजन्य अर्थ है? या उपाधिज्ञेय है? अथवा उपाधितन्त्र है *?

---

* शङ्का—जीव तथा ब्रह्मका भेद औपाधिक है, तुम्हारा यह कहना नहीं बनता, क्योंकि उपाधिका तो तुमने निरूपण ही नहीं किया। उपाधि क्या है ? अज्ञानको उपाधि कहते हो या अन्तःकरणको ? इनमें से पहला पक्ष तो बनेगा नहीं, क्योंकि अज्ञान ब्रह्म तथा ईश्वरके भेदका हेतु है। कहा भी है —'कारणोपाधिरीश्वरः'। रहा दूसरा पक्ष—अन्तःकरणको उपाधि मानना, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणरूप उपाधि यदि वास्तविक है, तो तत्कृत भेद भी वास्तविक ही होगा। यदि कहिये कि अन्तःकरण भी कल्पित ही है, तो प्रश्न यह होता है कि वह अनादि है या सादि है। सादित्वका तो खण्डन मूलकार अपने आप ही आगे करेंगे। यदि अनादि है, तो वह सुषुप्ति आदि अवस्थामें रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो स्थूलरूपसे रहता है या सूक्ष्मरूपसे ? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि 'मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति' (सम्पूर्ण वृत्तियोंके साथ मन आत्मामें लीन होता है) इस श्रुतिसे विरोध हो जायगा। एवं दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म वस्तु कारणरूपसे रह सकती है, तो कारण ही रहता है, यह कहना होगा। अन्तःकरण नहीं रह सकता, इसलिए उपाधि क्या है ?

समाधान—इसी वास्ते मूलमें 'उपाधिरपि अज्ञानमेव' कहा है। यद्यपि अज्ञान ईश्वरोपाधि है, तथापि जीवके विषयमें भी वही उपाधि हो सकता है।

शङ्का—तब तो जीव और ईश्वरका अभेद हो जायगा ?

जीवब्रह्मभेदस्य उपाधिरपि अज्ञानमेव वक्तव्यम्, अज्ञानकार्यस्य कादाचित्कत्वेन जीवब्रह्मविभागानुपाधिकृत्वात्। तत्र नाऽऽद्यः, भेदोत्पत्तेः पूर्वमेव केवले आत्मनि अज्ञानसिद्धेर्भेदानपेक्षणात्। स्वतन्त्राज्ञानानङ्गीकारात्। न द्वितीयः, अज्ञानस्य जडत्वेन भासकत्वानुपपत्तेः। नापि तृतीयः, तन्त्रत्वं हि त्रिधा दृष्टं लोके–जन्यत्वेन, आश्रितत्वेन, भास्यत्वेन च। तत्र अन्यतमस्याऽपि प्रकारस्य अज्ञाननिरूपितस्य प्रकृते असम्भवात् तन्त्रत्वानुपपत्तिः। न च अज्ञानात्मसम्बन्धवत् अज्ञानतन्त्रत्वं ब्रह्मात्मभेदस्य इति वाच्यम्, सम्बन्धस्य

यहाँपर जीव तथा ब्रह्मके भेदका उपाधि भी अज्ञानको ही मानना पड़ेगा। अन्तःकरण तो उपाधि हो नहीं सकता, क्योंकि वह अज्ञानका कार्य है और कादाचित्क है अर्थात् सर्वदा नहीं रह सकता। यहाँपर प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि भेदोत्पत्तिसे पूर्व केवल आत्मामें आज्ञान सिद्ध है, अतः उसको भेदकी अपेक्षा नहीं है †। एवं दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि अज्ञान जड़ है और जड़ भासक नहीं हो सकता। इसी तरह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि लोकमें तन्त्रत्व तीन प्रकारसे देखा गया है, जन्यत्वसे, आश्रयत्वसे और भास्यत्वसे। इनमेंसे किसी प्रकारके भी अज्ञाननिरूपित तन्त्रत्वका प्रकृतमें (जीवब्रह्मभेदमें) सम्भव नहीं है, इसलिए तन्त्रत्वकी असिद्धि है।

प्रश्न—अज्ञान और आत्माके सम्बन्धकी तरह ब्रह्मात्मभेद भी अज्ञानतन्त्र हो सकता है *।

समाधान—नहीं, अभेद नहीं होगा, क्योंकि आवरणशक्तिप्राधान्यसे वह जीवब्रह्मविभागका उपाधि है और विक्षेपशक्तिप्राधान्यसे ईश्वरका उपाधि है, इसीलिए 'मायोपाधिरीश्वरः' कहा है।

† तात्पर्य यह है कि क्या अज्ञान प्रयोजनके विना ही भेद करता है या प्रयोजनसे करेगा? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि निष्प्रयोजन कारण नहीं होता है। यदि प्रयोजनसे भेद कहें, तो पूछना यह है कि वह प्रयोजन जीवका है या अपना? इसमें भी पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि भेदकी उत्पत्तिके पहले जीवत्वका ही अयोग है। कदाचित् यह कहिये कि अपना प्रयोजन है, तो वह भी आश्रय और विषय लाभके लिए है या किसी अन्य प्रयोजनके लिए? इसमें आश्रय और विषयका लाभ ही कहना होगा, वह तो भेदोत्पत्तिसे पहिले ही केवल आत्मामें सिद्ध है; फिर उसको आश्रय और विषयकी क्या अपेक्षा है?

* शङ्का—जैसे महाकाशसे घटाकाश भिन्न है, यहाँपर घटाकाशके धर्मी होनेपर उसमें विशेषणीभूत घटको भी धर्मी मानते हैं, वैसे ही 'ब्रह्मसे भिन्न अज्ञानी जीव है' यहाँपर भी ब्रह्मभेदका आश्रय अज्ञान क्यों न होगा?

सम्बन्धितन्त्रत्वनियमात् ; भेदस्य च तथात्वाभावात्। तस्मात् जीवब्रह्मविभागशून्यमात्मानमाश्रित्य तमेव विषयीकरोति इति अज्ञानविषयत्वमात्मनः सिद्धम्। तदुक्तम्—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥'

तथापि तदज्ञानमेकमनेकं वेति कथं निर्णय इति चेत्, एकमेव इति वदामः। किं तत्र साधकमिति चेत्, उच्यते—

समाधान—'जो सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्धीके अधीन होता है' परन्तु भेद सम्बन्धीके अधीन नहीं होता, इसलिए अज्ञान जीवब्रह्मविभागशून्य केवल आत्माका आश्रयण करके † उसीको विषय करता है। इस तरह अज्ञान आत्मविषयक है, यह बात सिद्ध हुई। संक्षेपशारीरकमें कहा भी है—'आश्रयत्व विषयत्वभागिनीति' (केवल एक निर्विभाग [जीवत्वब्रह्मत्वविभागरहित] चिति ही अज्ञानकी आश्रय और विषय है। पीछे बना हुआ जीव प्रथमतः सिद्ध अज्ञानका आश्रय नहीं हो सकता और न विषय भी हो सकता है।)

प्रश्न-तथापि वह अज्ञान एक है या अनेक है? यह निर्णय कैसे होगा।

समाधान—हम तो कहते हैं कि अज्ञान एक ही है।

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है ‡?

समाधान—अज्ञान उपाधिरूप होनेसे तटस्थ है, एतावता उसको भेदके धर्मी जीवका विशेषण नहीं मान सकते।

† आशय यह है कि 'ब्रह्म अज्ञानका विषय है' यहाँ ब्रह्मशब्दका क्या अर्थ है? बिम्बप्रतिबिम्बभावसे रहित शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म शब्दका अर्थ है, अथवा बिम्बताको प्राप्त हुआ चैतन्य ब्रह्म शब्दका अर्थ है? प्रथम पक्ष तो हमको अभीष्ट है। रहा द्वितीय पक्ष, परन्तु वह युक्त नहीं है, क्योंकि बिम्बता अविद्याके उत्तरकालमें उत्पन्न होती है, इसलिए अविद्या उसका अवलम्बन नहीं कर सकती। किञ्च, अज्ञात ब्रह्मकी सिद्धि प्रमाणसे होती है, या भ्रमसे होती है, अथवा स्वप्रकाशरूपसे होती है? प्रथम पक्षमें तो ब्रह्म जड़ हो जायगा और अविद्याके प्रामाणिक होनेसे द्वैतापत्ति भी होगी। प्रमाणसे निवृत्त होनेवाला अज्ञान क्या प्रमाणसम्बन्धको सहन कर सकता है? कभी नहीं। एवं दूसरा पक्ष अर्थात् भ्रमसे अज्ञात ब्रह्मकी सिद्धि मानना भी ठीक नहीं है, इसीसे ब्रह्म अज्ञानका विषय न होगा, क्योंकि विषयके बाधसे ही ज्ञान भ्रमरूप होता है। इसी प्रकार तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अज्ञात ब्रह्मका स्वप्रकाशरूपसे स्फुरण नहीं हो सकता, तो फिर किस तरह ब्रह्म अज्ञानका विषय बतलाया गया है?

‡ वादीका तात्पर्य यह है कि यदि सिद्धान्ती अज्ञानमें प्रमाण कहेगा, तो सिद्धान्तकी हानि

लौकिकी वैदिकी चापि नाऽज्ञाने दृश्यते प्रमा ।
कार्यदृष्ट्याऽथ कल्प्यं चेत् लाघवादेकमेव तत् ॥८॥

अज्ञानं किं वेदसिद्धम् ? उत लौकिकप्रत्यक्षादिसिद्धम् ? उत परिदृश्यमानकार्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यम् ? तत्र नाऽऽद्यः, पूर्वकाण्डस्य कर्ममात्रविषयत्वात् वेदान्तानां च परिपूर्णसच्चिदानन्दब्रह्ममात्रविषयत्वात् तत्रैव फलसम्बन्धात् अज्ञानादौ तदभावात् तदप्रतिपादकत्वात् । नाऽपि द्वितीयः, स्पष्टप्रत्यक्षादिसिद्धत्वे विवादाभावप्रसङ्गात् । तस्मात् स्वतोऽसङ्गोदासीनस्य सदा स्वानन्दतृप्तस्य असत्यानेकविधसुखदुःखाद्यात्मकप्रपञ्चरचनानुपपत्त्या अज्ञानं कल्प्यत इत्येव वाच्यम्, गत्यन्तराभावात् ।

समाधान—सुनिये कहते हैं—

अज्ञानमें न तो कोई लौकिक प्रमाण है और न वैदिक प्रमाण है, यदि केवल कार्यको देखकर कल्पना की जाती है, तो लाघवसे एक ही अज्ञानकी कल्पना उचित है ॥८॥

अज्ञान वेदसिद्ध है या लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है अथवा दृश्यमान कार्यकी अन्यथा अनुपपत्तिसे उसकी कल्पना की जाती है ? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि वेद पूर्वकाण्ड, उत्तरकाण्ड भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। उनमें पूर्वकाण्डका विषय कर्ममात्र है। रहा उत्तरकाण्ड वेदान्त, उसका विषय परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्ममात्र है। उन्हींमें फलका (स्वर्ग और मोक्षका) सम्बन्ध है । अतएव अज्ञानादिमें फलसम्बन्ध न होनेसे वह अज्ञानका प्रतिपादक नहीं है। इसी तरह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अज्ञान स्पष्टरूपसे प्रत्यक्षादिसिद्ध होता तो उसमें विवाद ही न उठता, इसलिए अनुपपत्तिरूप युक्ति ही अज्ञानकी एकताकी साधिका है अर्थात् स्वतः असङ्ग, उदासीन और सदा स्वानन्दतृप्त आत्माका असत्य अनेक प्रकारके सुख-दुःखादिरूप प्रपञ्चकी रचना करना नहीं बन सकता, इसलिए अज्ञानकी कल्पना होती है और कोई दूसरी

होगी, और यदि प्रमाण न कहेगा, तो एक अज्ञानकी सिद्धि न हो सकेगी। और केवल युक्ति कहेगा, तो निर्मूल युक्ति कैसे मानी जायगी, इस आशयसे पूछता है कि उसमें क्या प्रमाण है ?

तथा च कल्प्यमानमज्ञानं एकमनेकं वेति विवादे एकस्याऽपि निद्रादोषस्य अनेकविधकार्यजनकत्वस्य स्वप्ने दृष्टत्वात् लाघवसहकृता अन्यथाऽनुपपत्तिर्विचित्रशक्तिकमेकमज्ञानमादाय विश्राम्यतीति युक्तम्। अत एव अज्ञानस्य जीवोपाधित्वात् तस्य च एकत्वात् तदुपाधिक आत्मा जीवो भवन्नेक एव भवति इति एकजीववादिनो वदन्ति। यथोक्तानुपपत्तिसिद्धार्थानुवादिनी श्रुतिः अपि।

गति नहीं है। [सारांश यह है कि स्वानन्दतृप्त आत्मा अनेक प्रकारसे दुःखरूप जगत्की रचना क्यों करता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना होगा कि अज्ञानसे करता है। बस, इसीसे अज्ञानकी सिद्धि हो गई। जैसे कि रज्जु अज्ञात होनेपर अनेक प्रकारसे सर्प, सूत्र, धारा, माला इत्यादि की रचना करती हुई देखी जाती है, वैसे ही असङ्ग चिदात्मा ईश्वर भी अज्ञानवश प्रपञ्च रचना करता है। अज्ञानके बिना प्रपञ्चरचना नहीं हो सकती।] कल्प्यमान अज्ञान एक है या अनेक ? इस विवादमें कह सकते हैं कि जैसे एक ही निद्रादोष स्वप्नमें अनेक प्रकारके कार्योंकी रचना करता हुआ देखा जाता है, इसी तरह कार्यकी अन्यथा अनुपपत्ति विचित्रशक्तिवाले एक अज्ञानको लेकर विश्राम करती है, यही ठीक है। इसीलिए अज्ञान जीवोपाधि है। अतएव उस अज्ञानरूप उपाधिके एक होनेसे तदवच्छिन्न आत्मा भी जीवभावको प्राप्त हुआ एक ही है, यह एकजीववादी कहते हैं। यहांपर पूर्वोक्त अनुपपत्तिसे सिद्ध अर्थका अनुवाद करनेवाली श्रुति भी है *।

---

* 'उप समीपे स्थित्वा स्वीयं रूपम् अन्यत्र आदधातीति उपाधिः' अर्थात् समीपमें स्थित होकर जो अपने रूपकी दूसरेमें प्रतीति करा दे, वह उपाधि कहलाती है। अज्ञान भी चिदात्माके समीप रह कर अपना एकत्व उपहित चिदात्मामें समर्पण कर देता है, इसलिए तदुपाधिक आत्मा जीव भी एक है।

शङ्का—एक अज्ञान है उपाधि जिसकी ऐसा आत्मा जीवभावको प्राप्त होता हुआ भी अनेक क्यों नहीं होता, क्योंकि एक दर्पणरूप उपाधिमें अनेक प्रकारके मुख, स्तम्भ, पुरुषादि देखनेमें आते हैं।

समाधान—उपाधिके एक होनेसे दृष्टान्तमें बिम्बोंके भेदसे प्रतिबिम्बोंका नाना होना युक्त ही है। प्रकृतमें तो बिम्ब भी एक है और उपाधि भी एक है, ऐसी अवस्थामें नाना जीव कैसे हो जायँगे।

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।'

इति श्रुतिः, अस्या अयमर्थः—असत्यस्य जगतोऽविद्याहेतुकत्वे वक्तव्ये सा किं जन्या, अजन्या वा ? इति संशये न जन्येत्याह—अजामिति। न च अविद्यावाचकपदाभावः, अजामिति अस्य एव स्त्रीलिङ्ग-निर्दिष्टस्य तद्वाचकत्वात्। तस्या अनेकत्वं व्यावर्त्तयति—एकामिति। तस्या विचित्रकार्यजननसामर्थ्यं त्रिगुणात्मकत्वेन समर्थयते—लोहित इत्यादिना। तादृशाविद्योपहितस्य जीवस्य उत्पत्तिं निरस्यति—अज इति। तस्य जीवस्य अनेकत्वं निषेधति—एक इति। ननु जीवगतमनेकत्वं लोकेऽनुभूयते, तत् कथमेकत्वम्? इति आशङ्क्य अभेदस्य उपनिषत्प्रसिद्धत्वं युक्तिसिद्धत्वञ्च प्रसिद्धार्थेन हिशब्देन आह—हि इति। ननु स्वयम्प्रकाश-

---

उक्त श्रुतिका यह अर्थ है—असत्य जगत् अविद्याजन्य कहा गया है, वह अविद्या क्या जन्या (उत्पत्तिवाली) है या अजन्या है? ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर कहा—अजा अर्थात् अविद्या जन्मरहित है।

प्रश्न—इस श्रुतिमें अविद्याशब्द तो आया ही नहीं है, फिर अविद्या अर्थ कहाँसे आया है।

समाधान—'अजाम्' इस स्त्रीलिङ्गपदसे ही अविद्याका ग्रहण होता है। वह अविद्या एक है या अनेक है? ऐसा संशय होनेपर कहा—'एकाम्' अर्थात् अविद्या एक है। वह त्रिगुणात्मक है, अतः उसमें विचित्र कार्य उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है, इस बातको बतलानेके लिए कहा—'लोहितशुक्लकृष्णाम्' अर्थात् वह सत्त्व, रज, और तम गुणवाली है। इस तरहकी अविद्यासे उपहित जो जीव है, उसकी उत्पत्तिका खण्डन करनेके लिए कहा—'अजः' अर्थात् जीव भी जन्मरहित है। उस जीवकी अनेकताका खण्डन करनेके लिए कहा—'एकः' अर्थात् जीव एक ही है, अनेक नहीं।

प्रश्न—लोकमें तो अनेक जीवोंका अनुभव होता है, फिर एक जीव कैसे?

समाधान—एकत्व उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है * और युक्तिसिद्ध भी है। इसी बातको प्रसिद्ध अर्थके वाचक 'हि' शब्दसे कहा— 'हि'।

---

* उपनिषदोंमें और स्मृतियोंमें कहा है—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' 'नान्योऽतोऽस्ति

ब्रह्माभिन्नत्वात् जीवस्य कथं तद्विलक्षणावस्थेति अत आह—अनुशेते इति। तामविद्यामनुसृत्य निद्रित इव शेते, अज्ञानेन आवृतः सन् मुद्रितज्ञाननेत्रो भवति इत्यर्थः। पश्चात् कार्याकारेण स्थितां तामेव जुषमाणः—सेवमानः संसारी भवति स्वप्नदृगिव इत्याह—जुषमाण इति। ननु अविद्याया अनादित्वेन अविनाशित्वादनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति अत आह—जहात्येनाम् इति। वाक्योत्थात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण निवर्त्तयति इत्यर्थः। त्याज्या चेदविद्या कथं तर्हि तामाश्रितवानात्मा इत्याशङ्क्य भोगार्थं हि अविद्याश्रयणं भोगस्य च तया जनितत्वात् इदानीं स्वात्मदर्शनेन प्रयोजनशून्याम्मन्यमानो जहाति इत्याह—भुक्तभोगामिति। भुक्तो भोगो यया सा तथा इति विग्रहः।

प्रश्न—यदि जीव स्वयंप्रकाशरूप ब्रह्मसे अभिन्न है, तो उसकी ब्रह्मसे विलक्षण अवस्था क्यों हुई ?

समाधान—इसीलिए तो श्रुतिने 'अनुशेते' कहा है अर्थात् उस अविद्याका अनुसरण करके निद्रित हुआ-सा शयन करता है अर्थात् अज्ञानसे आच्छादित होनेपर उसके ज्ञाननेत्र मुद्रित हो जाते हैं। पीछे कार्याकारसे स्थित हुई उस अविद्याका सेवन करता हुआ स्वप्न देखनेवालेके समान संसारी बन जाता है। इसलिए कहा—'जुषमाणः'।

प्रश्न—यदि अविद्या अनादि है तो उसका नाश नहीं होगा, तब तो अनिर्मोक्ष (मोक्षका न होना) सिद्ध होगा।

समाधान—इसी वास्ते श्रुतिने 'जहात्येनाम्' कहा है अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे जायमान जो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार है, उससे अविद्याको छोड़ देता है।

प्रश्न—यदि अविद्या त्याज्य है तो आत्माने उसका आश्रयण क्यों किया ?

समाधान—भोगके लिए अविद्याका आश्रयण किया, क्योंकि भोग अविद्यासे जनित है। स्वरूपके दर्शनसे उस अविद्याको प्रयोजनशून्य मानता हुआ छोड़ देता है, इसलिए कहा—'भुक्तभोगाम्' अर्थात् भुक्त है भोग जिससे, यह तात्पर्य है।

द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' और 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः' और युक्ति भी है उपाधि और बिम्बके एक होनेसे उपहित एक होता है, यह प्रसिद्ध है। जब कि उपाधि 'अज्ञान' एक ठहरा तो तदुपहित जीव भी एक ही सिद्ध होता है।

ननु अविद्याविशिष्टस्य जीवत्वात् अविद्याया जीवस्वरूपान्तरभावात् कथं जहाति इत्युक्तम् । इत्यत आह—अजोऽन्य इति । अजो जीवोऽविद्यातोऽन्य एव, न तु अविद्यान्तर्भावेन जीवत्वम्, अविद्याया जडत्वात् जीवस्य च चेतनत्वात् जीवोपाधित्वेन स्वीकारात् चेति ।

बन्धमोक्षव्यवस्था स्याद् जीवाभेदे कथं तव ।
यथा दृष्टं तथैवास्तु दृष्टत्वात् स्वप्नदृष्टवत् ॥९॥

ननु एक एव चेत् जीवः, कथमेको बद्ध एको मुक्त इति व्यवस्थितिः । ननु का अत्राऽनुपपत्तिः, अनुभवसिद्धत्वाद् द्वैतस्य । अनुभव एव नोपपद्यते, एकमुक्त्या सकलसंसारोच्छेदाद् इति चेत्, न; अन्तःकरणादेर्यथायथमाविद्यु-

---

शङ्का—अविद्याविशिष्टका नाम जीव है, इसलिए अविद्या जीवस्वरूपके अन्तर्गत रही तो फिर उसको जीव कैसे छोड़ सकता है ?

समाधान—इसीलिए तो श्रुतिने कहा है कि 'अजोऽन्यः' अर्थात् अज जो जीव है वह अविद्यासे भिन्न ही है, तात्पर्य यह है कि विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषणवृत्ति हो, यह कोई नियम नहीं है। नहीं तो 'रक्तघटमानय' यहाँपर रक्त रूप और घटत्व जातिके भी क्रियावत्त्व (क्रियावान् होने) का प्रसङ्ग हो जायगा । और अविद्या जड़ है जीव चेतन है, इसलिए भी अविद्या जीव नहीं हो सकती, किन्तु जीवोपाधिरूपसे अविद्याका स्वीकार किया है ।

प्रश्न—जीवको एक माननेमें तुम्हारी बन्धमोक्षव्यवस्था कैसे होगी ? समाधान—जैसे देखी गई है वैसे ही होगी, जैसे कि स्वप्नद्रष्टामें देखी गई है ॥९॥

प्रश्न—यदि एक ही जीव है तो एक बद्ध है, एक मुक्त है, यह व्यवस्था कैसे बनेगी ।

समाधान—इसमें अनुपपत्ति ही क्या है ? द्वैत तो अनुभवसिद्ध है ही ।

प्रश्न—अनुभव ही नहीं बनता 'अर्थात् एकजीववादमें अनुभवके स्वरूप का ही सम्भव नहीं होता, क्योंकि एककी मुक्ति हो जानेसे समस्त संसारका उच्छेद हो जायगा फिर अनुभव किसको होगा * ।

---

* तात्पर्य यह है कि श्रवणादि साधनसे सम्पन्न वामदेवको तत्त्वमस्यादि वाक्योंसे तत्त्व-साक्षात्कार हुआ । उस आत्मसाक्षात्कारसे समस्त प्रपञ्चका उपादान कारण जो अविद्या है,

कस्य स्वीकारात् करणानुपपत्त्यभावात् । विषयाभावात् प्रामाण्यानुपपत्त्या अनुपपन्नोऽनुभव इति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—कीदृशो विषयोऽपेक्षितः । व्यवहारयोग्यश्चेत्, अस्त्येवाऽसौ । परमार्थसत्यश्चेत्, कथमेवं भविष्यति; एकत्वस्य एव वेदतात्पर्यविषयत्वात् तत्र एव फलसम्बन्धात् । भेदस्य च सर्वस्य प्रतिपन्नोपाधौ 'नेति नेति' इति वाक्येन निषिध्यमानतया मिथ्यात्वस्य सिद्ध-

---

समाधान—यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्याके कार्य जो अन्तःकरण आदि हैं उनके माननेसे करणकी अनुपपत्ति नहीं है। † अर्थात् अन्तःकरणादिके रहते अनुभवमें कोई बाधा नहीं आ सकती ।

प्रश्न—इन्द्रियादि करण भले ही रहें परन्तु विषयके अभावसे उनके प्रामाण्यकी अनुपपत्ति रहेगी, इसलिए अनुभव तुम्हारा अनुपपन्न है ।

समाधान—यहाँपर हमको यह कहना है कि तुमको कैसा विषय अपेक्षित है ? यदि व्यवहारके योग्य विषय अपेक्षित है तो वह विद्यमान ही है । यदि कहो कि परमार्थमें सत्य विषय हमको अपेक्षित है । सो कैसे हो सकेगा, क्योंकि एकत्व ही वेदतात्पर्यका विषय है । अतः अद्वैतके प्रतिपादनमें ही वेदका फलसम्बन्ध है, अन्यत्र नहीं है, क्योंकि भेद—जगत्में तो उसके अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें 'नेति नेति' इस वाक्यसे निषिध्यमान होनेके कारण मिथ्यात्व सिद्ध है ।

उसकी भी निवृत्ति हो गई । ऐसी दशामें अनुभवकी उत्पत्तिके कारण जो अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि हैं, वे भी न रहेंगे, क्योंकि जब अविद्या ही न रही तो उसके कार्य अन्तःकरणादि कैसे रह सकते हैं और बद्ध, मुक्त इत्यादि व्यवस्थाका भी उच्छेद होगा, क्योंकि तुमने एक ही जीव माना है । उस एकजीव वामदेवकी मुक्ति हो गई । इसलिए एक वामदेवके मुक्त हो जानेसे सकल संसार का उच्छेद हुआ, तो अनुभव कैसे होगा ?

† वामदेवशब्दसे क्या लेते हो ? शरीरावच्छिन्न चैतन्य लेते हो या अनवच्छिन्न अज्ञानी चैतन्य लेते हो ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरावच्छिन्न चैतन्य कल्पित है; वह बद्धत्वमुक्तत्वका अधिकरण नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्यावाला बद्ध कहा जाता है। परन्तु शरीरावच्छिन्न अविद्यावान् नहीं है, वह तो अविद्याके बाद हुआ है, इसलिए शरीरावच्छिन्न चैतन्य न तो बद्ध ही है और न मुक्त ही है; रहा दूसरा पक्ष, वह यह कि अनवच्छिन्न अज्ञानी चैतन्य वामदेवशब्द का अर्थ है तो इसमें यह कहा जाता है कि वह अज्ञान अभी निवृत्त ही नहीं हुआ, क्योंकि 'अहं अज्ञः' यह प्रतीति होती है इसलिए अज्ञान कल्पित उन अनेक इन्द्रियादि की जबतक अज्ञान है तबतक स्थिति अवश्य रहेगी। एतावता अनुभव हो सकता है ।

त्वात्। वेदे एव वामदेवादेर्ज्ञानं श्रूयते इति चेत्, सत्यम्; तस्य जीवभेदाप्रतिपादकत्वात्। श्रुतार्थानुपपत्त्या कल्प्यते इति चेत्, न; निश्चितार्थजीवैक्यप्रतिपादकवाक्यान्तरविरोधेन कल्पनानुपपत्तेः। एकजीव-पक्षे एकमुक्त्या सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इति चेत्, न; एकत्ववादिनं प्रति सर्वत्वस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। तथापि बहवो जीवा अनुभवसिद्धा इति चेत्? भवतु तर्हि स्वप्नवद् व्यवस्था।

प्रश्न—वेदमें ही वामदेव आदिका ज्ञान सुना जाता है। अर्थात् 'तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे' यह श्रुति वामदेव को मुक्त बतलाती हुई भेदको भी विषय करती है; तो फिर, अद्वैत ही वेदका विषय कैसे है?

समाधान—ठीक है, परन्तु उक्त जो श्रुति है वह भेदका प्रतिपादन नहीं करती है, क्योंकि भेद तो अति तुच्छ है। उसको श्रुति क्या कहेगी। उक्त श्रुतिका तो इतना ही तात्पर्य है कि ऋषि वामदेवने आत्मसाक्षात्कारसे 'अहं मनुरभवं अहं सूर्यश्च' इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक मन्त्रोंको देखा।

प्रश्न—श्रुतार्थकी अनुपपत्ति ही जीवभेदमें प्रमाण हो सकती है, अर्थात् वामदेव सर्वभावको प्राप्त हुआ यह जो श्रुत अर्थ है वह तब ठीक हो सकता है जब कि वामदेवनामक कोई जीव मुक्त हो गया हो और बद्ध जो मैं मुमुक्षु हूँ मुझसे भिन्न हो। इसीसे जीवभेद भी सिद्ध होता है।

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चित अर्थवाले और जीवकी एकताका प्रतिपादन करनेवाले श्रुतिवाक्योंसे विरोध आता है *। इसलिए तुम्हारी कल्पना निर्मूल है।

प्रश्न—एकजीवपक्षमें एककी मुक्तिसे सबकी मुक्ति हो जानेका दोष आता है।

समाधान—जो एकजीव को ही मान रहा है, उससे सबकी मुक्ति हो जायगी यह कहना ही असङ्गत है।

शङ्का—खैर, तो भी बहुतसे जीव अनुभवसिद्ध हैं, इसपर क्या कहोगे?

समाधान—अनुभवसिद्ध हैं तो उनकी स्वप्नके समान व्यवस्था समझ लो, स्वप्नमें भी तो बहुतसे जीवोंका अनुभव होता है।

---

* 'अजो ह्येकः सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादि श्रुतिवाक्य जीवकी एकताके बोधक हैं।

ननु यथा स्वप्ने एक एव स्वप्नदृक् परमार्थसत्यः अन्ये तद्भ्रमकल्पिताः सर्वे, एवं जागरेऽपि एक एव परमार्थसत्योऽन्ये सर्वे कल्पिताः। तथा च बहूनां मध्ये कोऽसावेक इति अनिश्चये कः श्रवणादौ प्रवर्त्तेत इति साधनानुष्ठानाभावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इति चेत्? नूनं देहात्मवादमाश्रित्य भ्रान्तोऽसि। कथमिति चेत्, शृणु। स्वप्नेऽन्ये जीवाः कल्पिता इति कोऽर्थः। किं देहा देवगन्धर्वादिसंज्ञकाः कल्पिताः? उत अज्ञानोपाधिको यो जीवोऽस्मदभिमतः तादृशा एव बहवोऽनुभूताः तेषां एकः सत्योऽन्ये कल्पिता इति। नाद्यः, देहानां कल्पितत्वेऽपि अविरोधात्। नहि देहं वा देहावच्छिन्नं वा श्रवणाद्यधिकारिणं ब्रूमो येन अविनिगमो दोषः स्यात्।

प्रश्न—जैसे स्वप्नमें एक स्वप्न देखनेवाला ही परमार्थ सत्य है और दूसरे उसके भ्रमसे कल्पित हैं, वैसे ही यदि जाग्रत्‌में भी एक ही परमार्थ सत्य है और सब उसके अज्ञानसे कल्पित हैं तो बहुतोंमें से कौन वह एक है, इसका निश्चय नहीं हो सकता, फिर श्रवणादिमें कौन प्रवृत्त होगा और साधनके अनुष्ठानके अभावसे मोक्ष भी नहीं होगा।

समाधान—सचमुच, तुम तो देहात्मवादका आश्रयण करके भ्रान्त हो गये हो।

प्रश्न—कैसे?

समाधान—सुनो, 'स्वप्नमें और जीव कल्पित हैं, इसका क्या अर्थ समझते हो क्या देव गन्धर्व नामवाले शरीर कल्पित हैं या अज्ञानोपाधिक जो जीव हमको अभीष्ट है, वैसे ही बहुतसे अनुभूत हुए हैं, उनमें से एक सत्य है और कल्पित हैं। इनमें पहला पक्ष तो उचित नहीं है, क्योंकि देहोंके कल्पित होनेपर भी कुछ विरोध नहीं है। हम शरीरको अथवा शरीरावच्छिन्नको श्रवणादिका अधिकारी नहीं कहते हैं, जिससे कि अविनिगमरूप दोष आ सके। किन्तु द्रष्टा श्रवणादिमें अधिकारी है और अज्ञानका आश्रय द्रष्टा कहाता है, देह या देहावच्छिन्न अज्ञानके आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि अज्ञानके कार्य होनेके कारण ये अज्ञानके आश्रय नहीं हैं।

न द्वितीयः, अज्ञानावच्छिन्नस्य स्वप्ने भेदाऽननुभवात्। नहि पराज्ञानावच्छिन्नः परस्य प्रत्यक्षो भवतुमर्हति। तथापि तत्तद्देहचेष्टया अनुमीयत इति चेत्, न; एकेनापि अनेकदेहचेष्टोपपत्तेः नैयायिकानां कायव्यूहदशायां योगिदेहवत्। तद्वदेव अनुसन्धानप्रसङ्ग इति चेत्, सत्यम्;

इसी तरह दूसरा पक्ष—स्वप्नमें जीवभेद अनुभूत होते हैं—भी ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञानावच्छिन्नको स्वप्नमें भेदका अनुभव नहीं होता। तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'अहम् अज्ञः' इस प्रतीतिसे स्वप्नद्रष्टा अज्ञानोपहित आत्माका अनुभव करता ही है, तथापि जीवभेदका अनुभव नहीं करता, क्योंकि जिस तरह अतीन्द्रिय होनेके कारण पराये ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता उसी तरह अतीन्द्रिय होनेसे पराये अज्ञानका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जब कि अज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता तो तदवच्छिन्नका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिए स्वप्नमें जीवभेदका अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष न सही, तथापि उन-उन देहचेष्टाओंसे तो अनुमान होता है *।

समाधान—एकसे भी अनेक देहोंकी चेष्टा हो सकती है †। जैसे कि नैयायिकोंके मतमें कायव्यूहदशामें योगीके देहमें होती है।

* तात्पर्य यह है कि शरीर और शरीरावयवोंमें रहनेवाली तथा धर्मादि निमित्तसे जायमान विशिष्ट क्रियाका नाम चेष्टा है। वह देहभेदसे भिन्न-भिन्न है और प्रयत्नवाला आत्माका संयोग इस चेष्टाका असमवायी कारण है। और चेष्टा तादृश असमवायी कारणको जतलाती हुई, असमवायी कारणका विशेषण होनेसे, आत्माको भी जतलाती है। वह आत्मा प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न है; नहीं तो एक देहकी चेष्टा करनेपर सब देह चेष्टा करने लगेंगे, क्योंकि चेष्टाका कारण आत्मा और शरीरका संयोग है, सो विद्यमान है? इसलिए उन-उन शरीरोंका अधिष्ठाता उन-उन शरीरोंकी चेष्टासे भिन्न है, ऐसा अनुमान होता है, अतः स्वप्नमें जीवभेद अनुभव सिद्ध है।

† यहांपर सारांश यह है कि वादीने जो कहा—'उन-उन शरीरचेष्टाओंसे पृथक् पृथक् आत्माका अनुमान होता है' यह कैसे कहा? एक देहकी चेष्टा करनेपर सब शरीर चेष्टा करने लगेंगे, इस दोष प्रसंगसे कहा या एक आत्मासे अनेक देह की चेष्टा नहीं बन सकतीं इसलिए कहा अथवा अनेक शरीरोंका अधिष्ठाता एक माननेसे शरीरान्तरसे किये हुए कार्योंका अनुसन्धान होने लगेगा, इन दोषोंके परिहारके लिए तुमने अनेक आत्मा माने? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि केवल आत्मसंयोग ही चेष्टामें कारण नहीं है; किन्तु प्रयत्नवान् आत्मका संयोग कारण है। प्रयत्न भी जिस शरीरावच्छेदेन उत्पन्न होता है, उस शरीरचेष्टामें कारण

अविद्यावच्छिन्नं प्रति इष्टत्वात् तत्तद्देहावच्छिन्नं प्रति तत्रापि अभावात् आत्ममात्रस्य अनुसन्धातृत्वात्। अत एव एकस्मिन्नपि देहे पादावच्छिन्नः शिरोऽवच्छिन्नस्य दुःखं नानुसन्धत्ते 'पादे मे सुखं शिरसि मे वेदना' इति अनुभवात्।

तथा च देहात्मभ्रममाश्रित्यैव जीवभेदानुभव इति स्थितम्। तथापि कथमत्र अनुभव इति चेत्? श्रोतव्यं सावधानेन। एक एव नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव उपनिषन्मात्रगम्यो वस्तुतोऽस्ति।

स एव अज्ञानमाश्रित्य जीवभावं लब्ध्वा देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहान् परिकल्प्य तदुपकरणत्वेन ब्रह्माण्डादि चतुर्दशभुवनं सृष्ट्वा तेषु तेषु देहेषु

प्रश्न—तब तो योगीके समान ही सबको अनुसन्धान होना चाहिये।

समाधान—ठीक है, अविद्यावाच्छिन्नके प्रति तो हमको इष्ट है और उक्त देहावच्छिन्नोंके प्रति योगीके देहोंमें भी अभाव है।

प्रश्न—तो फिर योगीके देहोंमें अनुसन्धान करनेवाला कौन है।

समाधान—अज्ञानोपहित आत्मा है, क्योंकि केवल आत्मा ही एक अनुसन्धाता है, इसलिए एक ही शरीरमें जो पादावच्छिन्न है वह शिरोवच्छिन्नके दुःखका अनुसन्धान नहीं करता, क्योंकि पैरमें मेरे सुख है, शिरमें मेरे पीड़ा है, यह अनुभव होता है। इसलिए देहात्मवादका आश्रयण करके ही जीवभेदका अनुभव होता है; यह बात सिद्ध हुई।

प्रश्न—तथापि जाग्रत्-अवस्थामें जीवभेदका अनुभव क्यों होता है?

समाधान—सावधान होकर सुनिये, वास्तवमें एक ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव और उपनिषद्मात्रगम्य आत्मवस्तु है, वह अज्ञानका आश्रय करनेसे जीवभावको प्राप्त होकर देव, पशु, मनुष्य आदि शरीरोंकी कल्पना करके फिर

रहेगा। इसमें कोई दोष नहीं आ सकता, क्योंकि उन-उन देहोंके आरम्भक जो धर्मादि हैं, व ही इसमें नियामक हैं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उन-उन शरीरोंमें रहनेवाली चेष्टा अपने असमवायी कारण आत्मशरीरसंयोग की अपेक्षा रखती है। वह संयोगका विशेषण आत्मा एक है या अनेक? यदि एक है तो इस चेष्टासे आत्मभेदका अनुमान नहीं हो सकता। तथा 'अनेकशरीरवर्तिन्यश्चेष्टा एकात्मसंयोगासमवायिन्यः, चेष्टात्वात्, एकशरीरमात्रसमवेतचेष्टावत्, यह अनुमान भी आत्माका साधक है।

कश्चिद्देवः, कश्चित् मनुष्यः, कश्चित् हिरण्यगर्भः सर्वेषां स्रष्टा, कश्चित् विष्णुः पालकः, कश्चित् अन्यः सर्वसंहारकर्त्ता रुद्रः प्रलये। तेषामुपाधयः सत्त्वादिगुणाः तद्वशात् तेषां सर्वं सामर्थ्यम्, अहं पुनः कश्चिद् ब्राह्मणकुमारः तेषां भक्तिं पूजानमस्कारादिना अनुष्ठाय, श्रवणादि साधनं सम्पाद्य मोक्षं साधयिष्यामीति ईश्वरोऽपि सन् भ्रान्तो भवति जागरे।

पुनर्यथोक्तजागरप्रपञ्चमुपसंहृत्य स्वप्ने निद्रादोषसहकृतः तादृशमेव प्रपञ्चं परिकल्प्य तत्तद्देहेन्द्रियसाध्यभोगं भुक्त्वा वसिष्ठादयो मुक्ता अन्ये बद्धा अहमपि कश्चिद् बद्धः दुःखी संसारी मुक्तो भविष्यामि इति च कल्पयित्वा पुनस्तामवस्थामुपसंहृत्य जागरं सुषुप्तिं वा सर्वभ्रमनिवृत्तिरूपां प्राप्नोतीति। एवं सति एक एव आत्मा परिपूर्णः स्वयम्प्रकाशानन्दैकस्वभावः स्वाज्ञानवशात् जीवः संसारीत्यादिशब्दाभिधेयो भवति। न तदन्यः कश्चित् संसारी सम्भावयितुमपि शक्य इति स्थितम्। तस्य एव अनादिसंसारसञ्चितपुण्यनिचयक्षपितकल्मषस्य वैराग्यादिसम्पन्नस्य शास्त्राचा-

---

उन-उन शरीरोंके भोगसाधनरूपसे ब्रह्माण्डसे लेकर चौदह लोकोंकी रचना करके उक्त देहोंमें कोई देवता, कोई मनुष्य, कोई सबकी रचना करनेवाला हिरण्यगर्भ, कोई पालनकर्त्ता विष्णु और कोई प्रलयकालमें सबका संहारकर्त्ता रुद्र स्वयं बन गया। उनकी उपाधियाँ सत्त्व, रज और तमोगुण हैं। उनके कारण हिरण्यगर्भादिमें सब सामर्थ्य रहती है। मैं तो कोई एक ब्राह्मणकुमार हूँ (अतः) नमस्कारादिरूप पूजासे उन देवताओंकी भक्ति करके श्रवणादि साधनोंका अच्छी तरह सम्पादन करके मोक्ष सिद्ध करूँगा। इस तरह ईश्वर होनेपर भी जाग्रत्-अवस्थामें भ्रान्त होता है।

फिर पूर्वोक्त जाग्रत्-प्रपञ्चका उपसंहार करके स्वप्न-अवस्थामें निद्रादोषसे युक्त हुआ वैसे ही प्रपञ्चकी कल्पना करके तत्-तत् देह और इन्द्रियोंसे साध्य भोगोंको भोगकर वसिष्ठादि मुक्त हो गये, और बद्ध हैं, मैं भी कोई बद्ध हूँ, दुःखी और संसारी हूँ, मुक्त होऊँगा—ऐसी कल्पना करके उस अवस्थाका भी उपसंहारकर समस्त भ्रमनिवृत्तिरूप जाग्रत् अवस्थाको या सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है। इस दशामें एक ही परिपूर्ण स्वयंप्रकाश आनन्दैकस्वभाव जो आत्मा है, वह अज्ञानवश जीव, संसारी इत्यादि नामोंसे कहा जाता है। इससे भिन्न कोई भी संसारी सिद्ध नहीं हो सकता। पुरुषको अनादिसंसारसंचित पुण्य-

र्य्यप्रसादासादितादरनैरन्तर्य्यदीर्घकालादिसेवितश्रवणादिसाधनपाटवस्य यदा तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थात्मसाक्षात्कार उदयमासादयति, तदाऽज्ञानं तत्कार्य्यं सर्वमुपसंहृत्य स्वानन्दतृप्तः स्वे महिम्नि स्थितो मुक्त इति व्यवहारभाग् भवति। तस्याम् अवस्थायां न तदन्यः कश्चित् संसारी तेन अननुभूयमानं द्वैतं वा किञ्चिदस्तीति रहस्यम्।

अज्ञातसत्त्वं नेष्टं चेद् व्यवहारः कथं भवेत्।
नह्यदर्शनमात्रेण विषण्णो नाशनिश्चयात् ॥ १० ॥

ननु कथमेवमुच्यते तेन अननुभूयमानं द्वैतं नास्तीति यावता अज्ञातस्याऽपि द्वैतस्य सत्त्वमभ्युपगच्छन्ति।

समूहोंसे पापोंके नष्ट होनेपर, वैराग्यसम्पन्न होनेपर तथा शास्त्र और आचार्यके अनुग्रहसे प्राप्त आदरपूर्वक बहुत कालतक निरन्तर सेवित श्रवणादि साधनसे युक्त होनेपर जब 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे जायमान आत्मसाक्षात्कार होता है, तब अज्ञान और उसका कार्य इन दोनोंका उपसंहार करके स्वानन्दमें तृप्त और स्वमहिमामें स्थित हुआ वह 'मुक्त' ऐसे व्यवहारसे युक्त होता है। उस अवस्थामें* उससे भिन्न कोई न संसारी है और उससे अननुभूयमान कोई द्वैत ही है, यह एक अतिगोप्य सिद्धान्त है।

यदि अज्ञातसत्ता नहीं मानते हो, तो व्यवहार कैसे होगा, क्योंकि वस्तुके केवल अदर्शनसे उसके नाशके निश्चयसे कोई दुःखी नहीं देखा जाता ॥१०॥

प्रश्न—यह आपने कैसे कहा कि मुक्तात्मा द्वारा अननुभूयमान (अनुभवमें न आनेवाला) द्वैत है ही नहीं ? देखिये, नैयायिक लोग अज्ञात द्वैतकी भी तो सत्ता मानते हैं।

---

* तात्पर्य यह है कि देहादि अनेक जगत्‌विभ्रमकी उपादानकारण जो अविद्या है, उसकी तत्त्वसाक्षात्कारसे निवृत्ति हो जानेपर अनेकजीवभ्रम और जगत्‌भ्रम कुछ नहीं रहता। अर्थात् आत्माका अज्ञान देवादि शरीरके आकारसे और उनकी सामग्रीरूप जगत्‌के आकारसे तथा तत् तत् वृत्तिके आकारसे विषयचैतन्य सम्बन्धके निमित्त परिणत होता है, वही वृत्ति ज्ञानाभास, भ्रम आदि शब्दोंसे कही जाती है और विषयका भी उसीसे स्फुरण होता है। इस प्रकार देवादिशरीर, जगत् और अविद्यावृत्ति ये तीनों अविद्योपादानरूप हैं। अविद्याकी निवृत्ति अद्वैतसाक्षात्कारसे होती है। ऐसी दशामें अविद्याकी निवृत्तिसे प्रपञ्चकी निवृत्ति उचित ही है।

अत एव त्रिविधसत्त्वमङ्गीकुर्वन्ति वृद्धाः। न च तदज्ञातसत्त्वानभ्युपगमे उपपद्यते, प्रातीतिकपारमार्थिकभेदेन द्वैविध्यस्य एव सम्भवात्। अन्यथा गृहान्निर्गतस्य पुत्रपश्वादिसकलसाधनजातमपश्यतः तदभावनिश्चयेन शोकाग्निना दह्यमानस्य रुदतो मरणप्रसङ्गः।

ननु स्वप्नवत् जागरेऽपि प्रातीतिकसत्त्वसम्पन्नेन एव द्वैतेन व्यवहारः किमिति नोपपद्यत इति चेत्, न; वैषम्यात्, जागरबोधेन तस्य बाधात्, इह तु साक्षात्कारात् पूर्वं तदभावात् इति। अत्राहुः—

सत्त्वत्रयं वदन् वादी प्रष्टव्योऽत्राऽधुना मया।
सत्यं द्वैतमसत्यं वा नासत्ये त्रिविधं कुतः॥ ११॥

किं द्वैतं पारमार्थिकमाश्रित्य अज्ञातसत्त्वं साध्यते उत अनिर्वचनीयम्? नाद्यः, प्रत्यक्षादिप्रामाण्यनिरासेन निरस्तत्वात्। अन्त्ये अनिर्वचनीयं

इसीसे विवरणाचार्यने तीन प्रकारकी सत्ता मानी है। अज्ञातसत्ताके न माननेसे तीन प्रकारकी सत्ताका मानना उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि प्रातीतिक और पारमार्थिक भेदसे दो प्रकारकी ही सत्ताका सम्भव है। यदि त्रिविध सत्त्वके अङ्गीकार की अनुपपत्तिसे अज्ञातसत्ता न मानोगे तो घरसे बाहर गये हुए और वहाँ अपने पुत्र, पशु आदि सम्पूर्ण साधनसमूहको न देख कर उनके अभावका निश्चय कर शोकाग्निसे जलते एवं रोते हुए पुरुषका मरण हो जायगा।

यदि तुम (एकजीववादी) यह कहो कि स्वप्नवत् जाग्रत्में भी प्रातीतिक सत्तावाले द्वैतसे व्यवहार हो सकता है, इसलिए कुछ विरोध नहीं है। तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारा स्वप्नदृष्टान्त विषम है, अर्थात् स्वप्नका तो जाग्रत्में बाध हो जाता है, परन्तु द्वैतका बाध साक्षात्कारसे प्रथम नहीं होता। इसपर कहते हैं—

तीन प्रकारकी सत्ताको माननेवाले वादीसे हम यह पूछते हैं कि द्वैत सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो तीन प्रकारकी सत्ता क्यों नहीं है?॥११॥

क्या द्वैतको परमार्थ मान करके अज्ञातसत्ता सिद्ध करते हो या अनिर्वचनीय मानकर? इनमें पहला पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके खण्डित हो जानेसे ही तुम्हारा पक्ष खण्डित हो गया।

प्रथमतः क्वचित् सिद्धं न वा ? न चेत्, तर्हि दृष्टान्ताभावात् कथमाकाशादेः अनिर्वचनीयत्वं साधनीयम्। सिद्धं रज्जुसर्पादिकम् इति चेत्, तर्हि तत्र यादृशसत्त्वं तादृशमेव आकाशादेः प्रपञ्चस्य इति स्थिते विवेचनीयं किमज्ञातसत्त्वं किं वा प्रातीतिकमेव। यदि अज्ञातमपि सत्त्वमाकाशादेः कल्प्येत, तदा कथमयं दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिके सामञ्जस्येन उपसंह्रियेत, विरोधात्।

यदि दूसरा पक्ष मानो, तो कहो--वह अनिर्वचनीय कहीं सिद्ध है या नहीं ? यदि नहीं है, तो दृष्टान्तके न होनेसे आकाशादिकी अनिर्वचनीयता कैसे सिद्ध करोगे ? यदि कहो कि अनिर्वचनीय रज्जुसर्पादि हैं * तो जैसी सत्ता रज्जुसर्पादि की है, वैसी ही आकाशादिकी भी हुई। ऐसी दशामें तुम्हीं विचार करो कि अज्ञातसत्ता हुई या प्रातीतिकी सत्ता। यदि तुम आकाशादिकी अज्ञातसत्ता भी मानो, तो विरोध होनेसे यह दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकमें कैसे घट सकेगा ? अर्थात् दृष्टान्त ठहरा प्रातीतिकसत्तावाला और दार्ष्टान्तिक ठहरा अज्ञातसत्तावाला। बस, यही विरोध हुआ।

* तात्पर्य यह है कि 'इदं रजतम्' ऐसी रजतवैशिष्ट्याकार पुरोवर्तीको विषय करनेवाली प्रतीति है या नहीं ? यदि कहो कि नहीं है, तो रजतार्थी पुरुषकी पुरोवर्ती विषयमें प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि वहाँपर प्रवर्त्तक ज्ञानका अभाव है। यदि कहो कि विवेकका ग्रहण न होनेसे प्रवृत्ति होती है, तो अविवेकके अग्रहणसे निवृत्ति भी होगी और विशिष्ट ज्ञानका उच्छेद भी हो जायगा। यदि कहो कि वह प्रतीति है, तो प्रष्टव्य यह है कि वह प्रतीति निर्विषयिणी है या सविषयिणी है ? इसमें भी प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विषयक ज्ञान नहीं होता है और साकारवादकी भी आपत्ति आती है। अब रहा दूसरा पक्ष अर्थात् सविषयिणी प्रतीति मानना, इसपर भी प्रष्टव्य है कि उस प्रतीतिका विषय सत् है या असत् ? असत् कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीति अपरोक्षरूपा है। रहा सत्, सो भी पुरोवर्तीमें सत् है या स्थलान्तर में ? यदि कहो कि पुरोवर्तीमें सत् है तो भ्रान्ति और बाध न होने चाहियें। दूसरेमें भी यह सोचना चाहिये कि वह स्थलान्तर भी बुद्धि है या स्त्रीके हाथका आभूषण है ? इसमें भी प्रथम पक्ष तो प्रमाणके अभावसे नहीं बनता, क्योंकि 'इदं रजतम्' यह प्रतीति और 'इदं न रजतम्' यह बाधप्रतीति ये दोनों प्रतीतियाँ रजतको बुद्धिरूपका बोध नहीं कराते। कदाचित् यह कहो कि स्त्रीके हाथका रजत सत् है; सो भी ठीक नहीं। उसका यहाँपर ग्रहण ही नहीं है, क्योंकि व्यवहित होनेसे चक्षु इन्द्रिय उसको ग्रहण नहीं कर सकती। यदि कहो कि दोषसे चक्षु उसका ग्रहण कर सकता है, तो प्रश्न यह होता है कि केवल दोषसे उसका ग्रहण होता है या दोषसहित चक्षुसे ग्रहण होता है ? इसमें पहला

न च गृहात् विनिर्गतस्य असत्त्वनिश्चयेन रोदनादिप्रसङ्गो दोषः, बाधकप्रमाणस्य अप्रवृत्तत्वेन अभावनिश्चयानङ्गीकारात् स्वप्नवत् सर्वव्यवहारस्य उपपादितत्वाच्च। न च तत्र बाधोऽस्तीति वैषम्यम्, भ्रमावस्थायां कुत्राऽपि बाधस्य अनङ्गीकारात्। प्रमाणप्रवृत्तौ बाधेऽपि न कश्चित् दोषः, तदानीं भ्रमसिद्धेन व्यवहारानभ्युपगमात्। न च त्रिविधसत्त्वाभ्युपगमविरोधः, सर्वस्य द्वैतस्य प्रातीतिकसत्त्वमपरित्यज्य तैर्भ्रान्तसन्तोषमात्रस्य कृतत्वात्,

और जो तुमने यह दोष दिया है कि घरसे निकले हुए पुरुषके अभावके निश्चयसे रोदनादि प्रसङ्ग होगा; सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाधक प्रमाणके प्रवृत्त हुए विना अभावका निश्चय नहीं होता, [अर्थात् जब तक उसकी कोई बाधक वृत्ति उदित न होगी, तब तक कैसे अभावका निश्चय हो सकता है ?] और सम्पूर्ण व्यवहारको हमने स्वप्नकी तरह पहले ही सिद्ध कर दिया है। और वहाँपर बाध है, यह विषमता भी नहीं आती, क्योंकि भ्रम अवस्थामें कहीं भी बाध नहीं माना जाता। प्रमाणकी प्रवृत्तिमें बाध होनेपर भी कुछ दोष नहीं आता, क्योंकि बाधकालमें भ्रमसिद्ध वस्तुसे किसी प्रकारका व्यवहार नहीं होता।

प्रश्न—तीन प्रकारकी सत्ता माननेवाले आचार्योंके मतसे तो विरोध बना ही रहा।

समाधान—कुछ विरोध नहीं है, उन्होंने सम्पूर्ण द्वैतकी प्रातीतिक सत्ताका त्याग न करके केवल भ्रान्त पुरुषोंके सन्तोषार्थ व्यावहारिक सत्ता कह दी है। प्रपञ्चके प्रातीतिक होनेपर भी भ्रान्त पुरुषोंकी बुद्धिमें सिद्ध होनेपर अवान्तर* विषमताको लेकर व्यावहारिक सत्ताका कथन किया है। एतावता विरोध नहीं आ सकता।

[प्रश्न—तुम्हारा यह कहना है कि आत्माका अज्ञान देवादिदेहके आकारसे और तत्साधन ब्रह्माण्डके आकारसे और तत् तत् वृत्तिके आकारसे परिणत होता है। इससे वृत्तिसमकालीन (जब तक वृत्ति है तब तक) ही पदार्थ सिद्ध हुए;

पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे अन्धेको भी उसकी प्रतीति होने लगेगी। अब रहा दूसरा पक्ष, सो भी ठीक नहीं है, अन्यथा भित्तिसे व्यवहरित वस्तुओंका भी ग्रहण होने लगेगा, इससे पुरोवर्ती वस्तुमें रजत न तो सत् ही है, न असत् ही है और न सत् असत् उभयात्मक ही है। किन्तु वह अनिर्वचनीय है यह सिद्ध हुआ। इसीके समान आकाशादि भी सब अनिर्वचनीय हैं। उनकी प्रातीतिक सत्ता मानना ही उचित है॥

* नैयायिकके मतमें सब संसारके पदार्थोंके एक-सा सत्य होनेपर भी शब्द क्षणिक है, घट स्थिर है और परमाणु नित्य है, यह जैसे अवान्तर भेद है वैसे ही वेदान्त मतमें सबके असत्य होनेपर भी कुछ अवान्तर भेद माने गये हैं।

प्रातीतिकत्वेऽपि प्रपञ्चस्य भ्रान्तबुद्धिसिद्धौ आन्तरवैषम्यमाश्रित्य व्यावहारिकसत्त्वाभिधानाविरोधात् ।

द्वैतभेदे प्रतिज्ञानं प्रत्यभिज्ञा कथं वद ।
दशानां युगपत् सर्पभ्रमे तद्वत्तथैव सा ॥ १२ ॥

तथाऽपि अज्ञातसत्त्वानभ्युपगमे स्वप्नप्रबुद्धस्य स एवाऽयं प्रपञ्च इति प्रत्यभिज्ञाने का गतिरिति चेत् ? एकस्यामेव रज्ज्वां मन्दान्धकारवर्त्तिन्यां दशानां युगपत् सर्पभ्रमेण पलायमानानां परस्परं संवादेन एक एव सर्पः सर्वैः अनुभूत इति प्रत्यभिज्ञायां या सैवेति सन्तोष्टव्यम् । तत्र

वृत्तिसे पूर्व और उसके बाद पदार्थोंका होना सिद्ध नहीं होता और उस अवस्थामें सब पदार्थ ज्ञात हैं अज्ञात कोई भी नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें हम पूछते हैं, वह वृत्ति बाधपर्यन्त बनी रहती है या शीघ्र नष्ट हो जाती है ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे सुषुप्तिका अभाव हो जायगा और वृत्त्यन्तर (दूसरी वृत्ति) का भी अभाव मानना पड़ेगा । यदि वृत्तिको क्षणविनाशवाली मानो तो वृत्तिके समान द्वैत प्रपञ्च भी क्षणविनाशी सिद्ध होगा, तब तो ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रपञ्चकी उत्पत्ति और ज्ञानभेदमें प्रपञ्चका भेद होना, यह एक महादोष आता है। इसी बातको नीचेकी आधी कारिकासे कहते हैं—]

प्रश्न—ज्ञानभेदसे द्वैतभेद माननेपर 'सोऽयं घटः' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ?

समाधान—दस पुरुषोंको रज्जुमें एक साथ सर्पभ्रम होनेपर जैसे वे लोग कहते हैं कि हम सबने एक ही सर्प देखा, बस, वही दशा यहांपर भी जानो ॥१२॥

प्रश्न—तो भी स्वप्नसे जागे हुए पुरुषको 'वही यह प्रपञ्च है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, अज्ञात सत्ताके न माननेपर इसकी क्या दशा होगी ?

समाधान—मन्दान्धकारमें वर्त्तमान एक ही रज्जुमें जैसे सर्पभ्रम होनेपर भागते हुए दस पुरुष आपसमें मिलकर कहते हैं कि हम सबने एक ही सर्प देखा है। इस प्रत्यभिज्ञाकी जो गति समझो वही प्रपञ्चकी भी समझो। बस, इसमें सन्तोष करो। क्योंकि वहाँपर अपने-अपने भ्रमसे सिद्ध हुआ पृथक्-पृथक् ही सर्प का दसों पुरुषोंने एक साथ अनुभव किया है *।

---

* तात्पर्य यह है कि देवदत्तके नेत्रका रज्जुरूप अधिष्ठानके साथ संयोग होनेपर दोषवश

हि स्वस्वभ्रमसिद्धः सर्वैः पृथक् पृथक् एव अनुभूयते विषयः, अन्यभ्रम-सिद्धस्य अन्येन ज्ञातुम् अशक्यत्वात् अन्यभ्रमस्य अज्ञानात्। अविवेका-देव तु तत्र प्रत्यभिज्ञानम् एक एव सर्पः सर्वैः अनुभूयत इति। एवं जाग्र-दवस्थायां प्रपञ्चम् अनुभूय, सुषुप्तिं गत्वा, पुनरुत्थाय योऽयं प्रपञ्चानुभवः स प्रपञ्चान्तरमेव विषयीकरोति प्रत्यभिज्ञानं तु अविवेकादेव। न च सुषुप्तौ प्रपञ्चविलये प्रमाणाभावः 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अवि-

[प्रश्न—सबको एक ही सर्पका अनुभव होना क्यों न माना जाय ?]

समाधान—एकके भ्रमसे सिद्ध हुई वस्तुको दूसरा नहीं जान सकता यह एक नियम है, [अर्थात् रज्जुको विषय करनेवाली देवदत्तकी इदमाकार अन्तःकरण वृत्तिमें प्रतिबिम्बत चैतन्यनिष्ठ अविद्यात्मकभ्रमसे सिद्ध हुआ सर्प पृथक् है और यज्ञदत्तकी इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य-निष्ठ अविद्यात्मक भ्रमसिद्ध सर्प पृथक् है, यह सम्भव नहीं है कि देवदत्तके भ्रमसिद्ध सर्पादिको यज्ञदत्त जान ले,] इसलिए 'सबने एक ही सर्प देखा' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञामें अविवेक ही कारण है, अर्थात् जिस तरह अविवेकसे वहाँपर प्रत्यभिज्ञा होती है, इसी तरह जाग्रत् अवस्थामें प्रपञ्चका अनुभव करके सुषुप्तिमें जाकर फिर उठकर जो यह प्रपञ्चका अनुभव होता है यह दूसरा ही प्रपञ्च है। अब जो प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'वही यह घट है' इत्यादि यह अविवेकसे होती है।

प्रश्न—सुषुप्तिमें प्रपञ्चका लय हो जाता है, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—'नहि द्रष्टुर्दृष्टेः' यह श्रुति प्रमाण है श्रुतिका अर्थ यह है—द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता, अविनाशी होनेके कारण। ['अर्थात् सुषुप्तिमें भी आत्मा देखता ही है, उस आत्माके अविनाशी होनेसे उसकी स्वरूपभूता दृष्टि भी अविनाशी ही है, उसका लोप नहीं हो सकता।'

रज्जुत्व आकारको छोड़कर केवल इदमाकार अन्तःकरणकी वृत्तिका उदय होता है। फिर, वहाँपर पिछले संस्कारोंके वशसे रज्जु अवच्छिन्न इदमाकार जो देवदत्तकी अन्तःकरण वृत्ति है उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। तब उसे चैतन्यनिष्ठ जो अविद्या है, वह क्षुब्ध होकर सर्पाकारसे और सर्पवृत्ति आकारसे परिणत हो जाती है। अब वह उत्पन्न हुआ सर्प जिस पुरुषके अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यनिष्ठ अविद्याका विवर्त्त है उसी पुरुषके प्रति वह सर्परूप होता है और उसीसे जाना भी जाता है कि 'यह सर्प है', क्योंकि वृत्ति भी तो उसी पुरुषकी अविद्याका विवर्त्त है इसी तरह मैत्रादिके सर्पभ्रमको भी जानना चाहिये॥

नाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्' इति श्रुत्या सुषुप्तौ द्वितीयाभावं वदन्त्या तत्र सर्वप्रपञ्चाभावस्य दर्शितत्वात् ।

सर्पभ्रमाद्विशेषोऽस्ति जाग्रद्बोधेऽन्यथा कथम् ।
इन्द्रियादेरुपादानं तदभावे यतो न धीः ॥ १३ ॥

तथापि रज्जुसर्पादिज्ञानात् आकाशादिप्रपञ्चज्ञानेऽस्ति कश्चिद् विशेषः, प्रत्यक्षादिप्रमाणाविद्याकारणकत्वभावाभावाभ्याम् । नहि यादृशमर्थमिन्द्रियादिजन्यं ज्ञानं विषयीकरोति तादृशमेव अविद्याजन्यभ्रमोऽपि इति सम्भवति भ्रमात् पूर्वं विषयस्य असत्त्वात् इन्द्रियादिजन्यज्ञानस्य च सन्नि-

---

प्रश्न—तो फिर आत्मा देखता क्यों नहीं ?

समाधान—आत्माके विशेष दर्शनमें कारण साभास अन्तःकरण है और सुषुप्तिमें वह नहीं रहता इससे नहीं देखता कहा] 'न तु तद् द्वितीयम्' दूसरी वस्तु कोई है ही नहीं जिसको वह देखे, इस प्रकार दूसरेके अभावको कहती हुई श्रुतिने सुषुप्तिमें प्रपञ्चका अभाव दिखलाया है ॥

[पहले पूर्वपक्षीने कहा था कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भ्रममात्र है उस भ्रमके दूर हो जानेपर प्रपञ्चकी भीति जाती रहती है तो फिर अज्ञात सत्ता किसकी हो सकती है और प्रपञ्चमें जो ऐक्यका अनुभव होता है वह अविवेकसे होता है । जैसे कि अपने-अपने भ्रमसे सिद्ध पृथक्-पृथक् सर्पमें दसोंको एकत्वभ्रम होता है । इसमें वादी विषमताको दिखाता हुआ कहता है कि] सर्पभ्रमसे *जाग्रत् बोधमें विशेषता है, नहीं तो इन्द्रियोंको कारणता कैसे होती ? और इन्द्रियोंके बिना ज्ञान हो नहीं सकता ॥१३॥*

प्रश्न—तो भी रज्जुसर्पादिके ज्ञानसे आकाशादि प्रपञ्चके ज्ञानमें कुछ विशेषता है, क्योंकि प्रपञ्चज्ञानमें तो प्रत्यक्षादि प्रमाण कारण हैं और अविद्या कारण नहीं है और सर्पज्ञानमें अविद्या कारण है और प्रत्यक्षादि प्रमाण कारण नहीं है यह विशेषता है । यह सम्भव नहीं हो सकता कि जैसी वस्तुको इन्द्रियादिजन्य ज्ञान विषय करता है वैसी ही वस्तुको अविद्याजन्य भ्रम भी विषय करता हो । क्योंकि भ्रमसे पूर्व असत् होनेके कारण विषय नहीं रहता

कर्षादिजन्यत्वेन ज्ञानात् पूर्वं विषयसत्त्वस्य अवश्यम्भावात् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां च इन्द्रियादेः कारणत्वस्य सिद्धत्वात् ।

तस्मात् प्रपञ्चस्य अज्ञातसत्त्वाभ्युपगमोऽवश्यम्भावी । अन्यथा वैलक्षण्यानुपपत्तेः । मैवम्,

इन्द्रियाणां कारणत्वे भवेच्चोद्यं तदा तव ।
स्वप्नभ्रमे यथा तेषामन्वयव्यतिरेकधीः ॥ १४ ॥

इन्द्रियादेर्वस्तुतः प्रपञ्चज्ञानं प्रति अकारणत्वात् । कुत इति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—किमिन्द्रियादेः प्रमितिमात्रे कारणता किं वा भ्रमप्रमासाधारणज्ञानमात्रे भ्रममात्रे वा ? । नाऽऽद्यः, इन्द्रियादिजन्यज्ञानप्रामाण्यं भ्रमविषयव्या-

---

और इन्द्रियादिजन्य ज्ञानके सन्निकर्षादिजन्य होनेसे ज्ञानसे पूर्व विषयकी सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी । [सारांश यह है कि सर्पादि पहले रज्जुमें नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे भ्रमसे बीचमें प्रतीत होने लगे हैं और घटादि पदार्थ तो पहले ही से सिद्ध हैं इन्द्रियाँ उनका साक्षात्कार करती हैं,] और अन्वय तथा व्यतिरेकसे भी इन्द्रियादिमें प्रपञ्चज्ञानके प्रति कारणता सिद्ध है ।

इसलिए प्रपञ्चकी अज्ञातसत्ता अवश्य मानी जायगी, नहीं तो विलक्षणता न होगी । [इसपर पूर्वपक्षी सिद्धान्तीके मतको लेकर कहता है—] नहीं, ऐसा नहीं कह सकते ।

प्रपञ्चज्ञानके प्रति इन्द्रियोंमें यदि कारणता होती तो तुम्हारा यह पूर्वोक्त प्रश्न ठीक होता, इन्द्रियोंमें तो कारणता है ही नहीं, किन्तु स्वप्नभ्रममें जैसे उनमें अन्वय और व्यतिरेक है, वैसे ही जाग्रत्कालमें भी समझो । दोनोंमें विशेषता क्या है ? ॥१४॥

समाधान—वास्तवमें इन्द्रियोंको प्रपञ्चज्ञानके प्रति कारणता नहीं है ।

प्रश्न—क्यों नहीं है ?

समाधान—कहो तो सही, क्या तुम प्रमामात्रके प्रति इन्द्रियोंको कारण मानते हो या भ्रम-प्रमा-साधारण ज्ञान मात्रके प्रति कारण मानते हो अथवा भ्रममात्रके प्रति कारण मानते हो ? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रमविषयसे भिन्न जो वस्तु उसको विषय करनेसे

वृत्तार्थविषयत्वेन साधनीयं भ्रमविषयव्यावृत्तार्थत्वं च प्रमितिविषयत्वेन इति अन्योन्याश्रयात्। न च प्रमितिविषयत्वमर्थसत्यत्वे हेतुरपि, मिथ्येद रजतमिति प्रमित्या असत्यस्य अपि विषयीकरणात् अबाधितत्वस्य च असिद्धेः। किञ्च, इन्द्रियाणां प्रमाणत्वेन अज्ञातार्थविषयत्वे वक्तव्येऽधिष्ठानमात्रविषयत्वं प्राप्तं प्रपञ्चस्य सर्वस्य जड़त्वेन अज्ञातत्वाभावात्।

(अर्थात् यथार्थ वस्तुको विषय करनेसे) इन्द्रियादिजन्य ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध होगी और भ्रमविषयव्यावृत्तार्थता 'अर्थात् वस्तुकी यथार्थता' प्रमाविषय होनेसे सिद्ध होगी। इसलिए भ्रमसे भिन्न वस्तुका और प्रमाज्ञानका अन्योन्याश्रय होगा। [सारांश यह है कि वस्तुकी सत्यता प्रमाज्ञानके अधीन हुई और प्रमाज्ञान यथार्थ वस्तुके अधीन ठहरा। बस, यही अन्योऽन्याश्रय दोष हुआ, इसलिए जबकि प्रमाज्ञान ही ठीक न हुआ तो उस प्रमाज्ञानके प्रति इन्द्रियोंको कारणता कैसे हो सकती है?]

प्रश्न—जब कि केवल प्रमाविषय होनेसे ही वस्तुकी सत्यता सिद्ध है, तो फिर विवाद क्यों करते हो?

समाधान—वस्तुकी सत्यतामें प्रमाविषय होना ही एक कारण नहीं है, क्योंकि 'मिथ्येदं रजतमभात्' (यह मिथ्या ही रजत प्रतीत हुआ, वास्तवमें रजत नहीं था) इस प्रकारकी प्रमा असत्यको भी विषय करती है। इसलिए केवल प्रमितिविषय होना ही वस्तुकी सत्यतामें कारण नहीं है।

प्रश्न—[हम प्रमाविषय होनेसे ही वस्तुकी सत्यता सिद्ध नहीं करते, जिससे कि अन्योन्याश्रय और व्यभिचार प्राप्त हो, किन्तु] अबाधित होनेसे यथार्थता सिद्ध करते हैं।

समाधान—आपका अबाधितत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तं नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंसे द्वैतका मिथ्यात्व सिद्ध हो चुका है। किञ्च, इन्द्रियोंका प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियोंमें यदि प्रामाण्य मानोगे 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' अर्थात् अज्ञात वस्तुको विषय करनेवाला प्रमाण कहलाता है, तो इन्द्रियोंकी अज्ञातार्थविषयता कहनी होगी, सो नहीं बनती, क्योंकि चेतनरूप एक अधिष्ठान ही अज्ञात है

तथा च अधिष्ठानत्वस्य आत्मनि एव विश्रान्तत्वेन प्रत्यगात्मविषयाणि इन्द्रियाणि प्रमाणानि इति वक्तव्यम्, तच्च न उपपद्यते, प्रत्यगात्मन इन्द्रियाविषयत्वात् तस्य निर्धर्मकत्वात्। तथा च श्रुतिः—

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्॥' इति।

और प्रपञ्च तो जड़रूप होनेसे अज्ञात नहीं हो सकता * इसलिए इन्द्रियोंको अधिष्ठानमात्रविषयता प्राप्त हुई। परन्तु आत्मा अधिष्ठान है, ऐसी अवस्थामें प्रत्यगात्माको विषय करनेवाली इन्द्रियाँ प्रमाण हैं, यह कहना होगा। पर ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यगात्मा इन्द्रियोंका विषय नहीं है *, इन्द्रियाँ रूपादिवाले पदार्थोंको विषय कर सकती हैं, आत्मा सब धर्मोंसे शून्य है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूरिति' (अनात्मविषयक होनेके कारण ईश्वरने इन्द्रियोंकी हिंसा की अर्थात् उनकी हिंसा यही है कि वे अनात्मवस्तुके दर्शनकी साधन हैं आत्मदर्शनकी साधन नहीं हैं, इसलिए ये इन्द्रियाँ अनात्मवस्तुको देखती हैं अन्तरात्माको नहीं देख सकतीं।)

* प्रपञ्चको अज्ञात इसलिए नहीं मानते कि सब प्रपञ्च जड़रूप होनेके कारण स्वयं आवृत हैं, तो फिर उनमें अज्ञानविषयत्वरूप अज्ञातत्वकी कल्पना करना व्यर्थ है। इसमें अनुमान भी प्रमाण है—विमतः प्रपञ्चो नाऽज्ञातः, जड़त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथात्मा। अर्थात् प्रपञ्च जड़ होनेसे अज्ञात नहीं है परन्तु आत्मा चेतन है इसलिए अज्ञात हो सकता है, इस अनुमानसे केवल आत्मा ही एक अज्ञात सिद्ध होता है।

शङ्का—'अज्ञातो घटः, इस प्रत्यक्षसे विरोध आवेगा, क्योंकि घट भी तो अज्ञात है।

समाधान—अज्ञानके साथ साक्षी चैतन्यमें घटादि पदार्थ अध्यस्त हैं, इसलिए ऐसा भान होता है वास्तवमें वे अज्ञात नहीं हैं।

शङ्का—अधिष्ठान अज्ञानका विषय रहे और प्रमाणोंको भी तद्विषयता रहे। परन्तु प्रपञ्चके एकदेश जो सीप, रज्जु और मरुभूमि हैं, वे भी तो तत्-तत् भ्रमके अधिष्ठान हैं इस दशामें वे भी अज्ञात हुए और आप अधिष्ठानको अज्ञात मान चुके हैं तब तो तद्विषयता इन्द्रियोंको प्राप्त हुई।

समाधान—शुक्त्यादि अवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली जो अविद्या है, उसके विवर्त्तरूप रजतादि हैं, इसलिए चैतन्य ही सर्वत्र भ्रमका अधिष्ठान है, सीप आदि नहीं।

† प्रकाश्य, अनिर्वचनीय विषयोंसे विपरीत आत्मा ज्ञात होता है, इसलिए आत्मा प्रत्यक् कहलाता है वह अपनी प्रतीतिके लिए इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखता।

शङ्का—स्वाज्ञानको दूर करनवाली जो आत्माकार वृत्ति है, उसकी उत्पत्तिके लिए तो आत्माको इन्द्रियोंकी अपेक्षा होगी ही।

न च अनयैव श्रुत्या इन्द्रियाणां प्रपञ्चविषयत्वं दर्शितमिति वाच्यम्, स्वप्नेन्द्रियवदन्वयव्यतिरेकभ्रमसिद्धप्रपञ्चज्ञान कारणत्वानुवादेन आत्मन इन्द्रियाविषयत्वप्रदर्शने तात्पर्य्यात्। एतेन भ्रमप्रमासाधारणज्ञानकारणत्वमपि अपास्तम्, प्रमाकरणत्वस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्।

अस्तु तर्हि भ्रममात्रे कारणता इन्द्रियाणाम्, न; भ्रमज्ञानस्य अविद्यामात्रयोनित्वस्य त्वयैव उक्तत्वात्, ज्ञानं प्रति इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोश्च स्वप्नेन्द्रिया-

प्रश्न—"तस्मात् पराङ् पश्यति" यह श्रुति प्रपञ्चप्रमाके प्रति इन्द्रियोंको साधन बतलाती है, इससे इन्द्रियोंमें प्रपञ्चविषयता सिद्ध होती है, फिर इन्द्रियोंमें प्रमाणता क्यों नहीं है?

समाधान—'स्वप्नेन्द्रियवत्'* अर्थात् स्वप्नदशामें इन्द्रियोंमें जैसी कारणता है, वैसी ही कारणताका यह श्रुति अनुवाद करती है, इसलिए अन्वय और व्यतिरेकरूप भ्रमसे सिद्ध जो प्रपञ्चज्ञानकी इन्द्रियोंमें साधनता, उसके अनुवादसे श्रुतिका तात्पर्य आत्मा इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इस बातके दिखानेमें है। अब इस पूर्वोक्त युक्तिसे भ्रमप्रमासाधारण ज्ञानके प्रति इन्द्रियोंमें कारणता है, इस द्वितीय विकल्पका भी खण्डन हो गया, क्योंकि प्रमाकरणताका निरूपण करना अशक्य है।

प्रश्न—अच्छा तो तीसरा पक्ष सही अर्थात् भ्रममात्रके प्रति इन्द्रियोंमें कारणता मान ली जाय।

समाधान—यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि भ्रमज्ञान अविद्यामात्र कारणवाला है। अर्थात् केवल अविद्यासे भ्रम ज्ञानकी उत्पत्ति है, यह पहले तुम ही कह आये हो। अब रहे ज्ञानके प्रति इन्द्रियोंमें कारणता सिद्ध करनेवाले

समाधान—ठीक है अज्ञानकी निवृत्तिके लिए आत्मा इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है, परन्तु इन्द्रियाँ आत्मामें प्रवृत्त नहीं होतीं, क्योंकि रूपादिपूर्वक ही इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होती है और आत्मा रूपादिरहित है।

* यह श्रुति इन्द्रियोंमें प्रपञ्चविषयता दिखानेमें तात्पर्य रखती है या उसके अनुवादसे आत्माके इन्द्रियोंके अविषय होनेमें तात्पर्य रखती है? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि निष्प्रयोजन अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं होता। रहा दूसरा पक्ष, उसमें भी यह विचार करना चाहिए कि अनुवाद प्रमाणसिद्धका होता है या भ्रमसिद्धका? इसमें भी पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियोंमें प्रमाणत्व सिद्ध करनेवाले जो अन्वय और व्यतिरेक हैं, वे अन्यथासिद्ध हैं, यह आगे कहेंगे। रहा दूसरा पक्ष, उसमें भी इन्द्रियोंको प्रपञ्चविषयक प्रमाके कारण माननेसे प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता।

न्वयव्यतिरेकवदुपपत्तेः । एवं घटादिकार्य्यमात्रे कारणाकाङ्क्षायां कारणत्वेन अविद्यैव उपसंहर्तव्या । तत्तदर्थिनां तत्तत्कारणविशेषोपादानं तु तथैव

अन्वय और व्यतिरेक, परन्तु वे भी नहीं सिद्ध होते, क्योंकि जिस तरह स्वप्नमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति न होनेपर भी इन्द्रियोंका अन्वय और व्यतिरेक देखनेमें आता है। उसी तरह जाग्रत्में भी इसलिए अन्वय और व्यतिरेक कारणताके साधक नहीं हैं। *एवं घट, पट आदि कार्यमात्रमें कारणकी आकांक्षा होनेपर अविद्याको ही कारणरूपसे समझना

* प्रश्न—'रूपोपलब्धिः करणसाध्या, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्' अर्थात् रूपकी उपलब्धि क्रिया होनेसे करणसाध्य है, छेदन क्रियाके समान इत्यादि अनुमान, रूपादिकी उपलब्धिके प्रति चक्षुरादि इन्द्रियोंको कारण सिद्ध करते हैं, फिर कैसे कहते हो कि इन्द्रियोंमें कारणता नहीं है।

उत्तर—यहाँपर उपलब्धिशब्दसे स्फुरणरूप शुद्ध चित्स्वरूप लेते हो या वृत्ति लेते हो अथवा वृत्ति उपहित चैतन्य लेते हो? इन तीन पक्षोंमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्धको 'नित्यं विज्ञानं' इस श्रुतिने नित्य कहा है और नित्यको करणकी अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि वह स्फुरणरूप ठहरा। अब रहा दूसरा पक्ष, इसमें हम पूछते हैं कि वृत्ति विना करणसे है या चक्षुसे भिन्न करणसे है अथवा चक्षुकरणसे है? इन तीनों पक्षोंमें से, बाध होनेके कारण, पहला और दूसरा पक्ष तो नहीं बनता। अब रहा तीसरा पक्ष, परन्तु अन्योन्याश्रय दोष होनेसे वह भी नहीं बनता। अन्योन्याश्रयका प्रकार यह है कि जब चक्षुकरणवाली वृत्ति सिद्ध हो लेगी, तब वृत्तिरूप पक्षमें अनुमानकी प्रवृत्ति होगी और अनुमानकी प्रवृत्ति होनेपर चक्षुःकरणवाली वृत्तिकी सिद्धि होगी। बस, यही अन्योन्याश्रय दोष हुआ। इसीसे वृत्ति उपहितवाला पक्ष भी अब न रहा। इस कारण इन्द्रियोंमें करणता सिद्ध नहीं हो सकती। इसपर अनुमान भी है—'विमतं चक्षुः न रूपस्य तदाश्रयद्रव्यस्य वा ग्राहकम्, असाधारणेन्द्रियत्वात्, घ्राणादिवत्' अर्थात् चक्षु असाधारण इन्द्रिय होनेसे रूप अथवा रूपाश्रय द्रव्यका ग्राहक नहीं हो सकता, घ्राणादि इन्द्रियोंके समान, इस तरह चक्षुरादिकी करणताका खण्डन हो जाता है। अब रहा मन, वह भी करण नहीं बनता। क्या तुम आत्माकी उपलब्धिके प्रति मनको करण मानते हो या सुखादिकी उपलब्धिके प्रति करण मानते हो? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि कर्तृ कर्म विरोध आता है अर्थात् आत्मा ही कर्त्ता और कर्म दोनों हो जायगा, पर ऐसा होता नहीं है। और आत्मा स्वयंप्रकाशरूप भी है। रहा दूसरा पक्ष, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुखादि केवल साक्षिवेद्य हैं। इसलिए अविद्यामूलक ही जगत्की उपलब्धि है। इन्द्रियोंकी प्रमाणता नहीं है।

स्वप्नवदुपपादनीयम्। ततो ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नकार्य्यजातं ज्ञानं ज्ञेयरूपं तत् सर्वमाविद्यकमेव। इति प्रातीतिकमेव सत्त्वं सर्वस्य इति सिद्धम्। तदुक्तं वसिष्ठेन—

'अविद्यायोनयो भावाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव।
क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥'

चाहिये *। अत एव तत् तत् घटादि कार्योंकी इच्छावाले कुम्भकारादिका तत्तत् मिट्टी आदि कारणविशेषका उपादान भी स्वप्नके तुल्य ही जानो †। एतावता ब्रह्मसे अतिरिक्त ज्ञानज्ञेयरूप समस्त कार्य आविद्यक (अविद्याजन्य) ही है इससे सबकी सत्ता प्रातीतिक ही है, यह बात सिद्ध हुई। यही बात भगवान् वसिष्ठजीने भी कही है—ये संपूर्ण ज्ञान ज्ञेयरूप पदार्थ अविद्यामूलक हैं, बुद्बुदोंकी भाँति क्षणमात्रके लिए उदित होकर ज्ञानरूपी सागरमें लीन हो जाते हैं।

---

* शङ्का—अविद्या उपादानवाले शुक्तिरजत आदिकी तो अविद्यावृत्तिसे ग्राह्यता ठीक ही है, परन्तु घटादि जगत् तो अविद्या उपादानवाला नहीं है, क्योंकि घटादि पदार्थोंको चाहनेवाले कुम्हारादिके 'मिट्टी आदि कारण विशेषको लाना फिर उनको यथोचित कार्यमें लगाना' इत्यादि कार्य देखे जाते हैं, क्योंकि ये अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध मिट्टी आदि उपादानवाले हैं। फिर घटादि प्रपञ्चकी अविद्यावृत्तिभास्यता कैसे हो सकती है ?

समाधान—मध्यम परिमाणवाले होनेसे घटादि समस्त पदार्थ कार्यरूप हैं। जो मध्यम परिमाणवाला नहीं है वह कार्य भी नहीं है, जैसा कि आत्मा। इस तरहसे जब कि घटादि कार्य सिद्ध हुए तो वे भावरूप हैं, क्योंकि वे प्रतियोगीमें निराकांक्ष हैं, इस प्रकार सभी भाव कार्योंको उपादानकारणकी आकांक्षा होती है कि इनका उपादानकारण कौन है ? विचार करनेपर ज्ञात होता है कि आत्मा तो उपादानकारण हो नहीं सकता, क्योंकि श्रुतिने 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' कहा है। परिशेषसे अविद्या ही कारण सिद्ध होती है, अतः अविद्योपादान जगत् सिद्ध हुआ।

† तात्पर्य यह है कि वास्तवमें स्वप्नमें न मिट्टी है न घड़ा है, किन्तु अविद्या ही मिट्टीरूप से परिणत हुई है और अविद्याकल्पित कुलालने उसे लेकर आविद्यक ही घट बनाया। यह सब लीला स्वप्नदशामें अविद्या की है। श्रुति ने भी कहा है 'न तत्र रथा रथयोगा वा' अर्थात् स्वप्नमें न तो रथ हैं और न रथके योग्य मार्ग ही हैं। इस प्रकार वास्तव सृष्टिका निषेध किया है। इसी तरह जाग्रत् कालमें भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिने घटादि प्रपंचका निषेध ही किया है, मिट्टी आदि रूपसे परिणत हुई अविद्या घटादिकी उपादान कारण है, इसमें कुछ विरोध नहीं आता।

मृदादीनां कारणत्वं न चेदिष्टं घटं प्रति।
अविद्यायाः कारणत्वं कथं सिद्ध्येत् प्रमां विना॥ १५॥

ननु अविद्यायोनित्वं भावानां कार्य्यकारणभावमङ्गीकृत्य, न वा? न चेदविद्यायोनित्वमपि कथम्? अस्ति चेत् कार्य्यकारणभावः, तदा यथायथमन्वयव्यतिरेकादिरेव प्रमाणम्, तत्र प्रकारान्तरासम्भवात्। तथा च अन्वयव्यतिरेकादिसिद्धं मृदादि कारणत्वमपहाय अविद्याकारणत्वाभिधानमनुचितमेव। किञ्च, अविद्यायोनित्वं भावानां वदन् प्रष्टव्यः, किमितरनिरपेक्षा अविद्यैव कारणम्? उत अदृष्टेश्वरादिकारणान्तरसापेक्षा? नाद्यः, कारणवैचित्र्याभावेन कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेः चेतनाधिष्ठानमन्तरेण जड़-

यदि घटके प्रति मिट्टीका कारण होना अभीष्ट नहीं है तो प्रमाके विना ही अविद्यामें कारणता कैसे सिद्ध होगी?॥१५॥

प्रश्न—तुमने जो पदार्थों को अविद्यामूलक सिद्ध किया है सो कार्य कारणभावको मानकर किया है या उसे न मानकर? यदि कार्यकारणभावको न मानोगे तो अविद्यायोनित्व भी कैसे होगा और यदि कहो कि कार्य-कारणभाव है, तो वहांपर प्रकारान्तरका सम्भव न होनेसे अन्वयव्यतिरेकादि ही प्रमाण होंगे। तब तो अन्वयव्यतिरेकादिसे सिद्ध मिट्टी आदिकी कारणताको छोड़कर अविद्याको कारण कह देना अनुचित ही है। किञ्च, और भी दोष हैं पदार्थोंको अविद्यायोनि कहनेवाले वेदान्तीसे पूछना चाहिये कि और किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखती हुई केवल अविद्या ही कारण है या अदृष्ट (शुभाशुभ कर्म) और ईश्वरादि कारणान्तरोंकी अपेक्षा रखती हुई अविद्या कारण है? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि कारणके विचित्र न होनेपर कार्य भी विचित्र नहीं होता अर्थात् सामग्रीभेदका कार्यभेद प्रयोजक है। और चेतन अधिष्ठान के बिना जड़शक्तिमें कार्यकारिता * अनुपपन्न है अर्थात् युक्तिशून्य है।

* कारणरूपसे स्वीकार की हुई अविद्याको चेतन तो कह नहीं सकते, क्योंकि अविद्याकी हानि हो जायगी। अविद्या अचेतन है। वह अविद्या स्वयं प्रवृत्त होती है या चेतनसे अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होती है। इसमें अन्य पक्ष तो तुम्हें अभीष्ट नहीं है, क्योंकि अविद्याधिष्ठातृत्व होनेसे चेतनको भी कारणता प्राप्त होनेपर अविद्यामात्र कारणवादकी हानि हो जायगी,

शक्तेः कार्यकारित्वानुपपत्तेश्च। नाऽपरः, अविद्याकारणवादिनापि अदृष्टेश्व-रादेः कारणत्वस्य अवश्यं वक्तव्यत्वात् लाघवात्, तत एव विचित्रकार्योपपत्तौ किमज्ञानेन कारणत्वाभिमतेन कल्पितेन। तथा च प्रत्यक्षादेर्लौकिकस्य प्रमाणस्य पूर्वकाण्डस्य च पुत्रपशुस्वर्गादिकम्प्रति यागादेः साधनताबोध-कस्य प्रामाण्यं समर्थितं भवति। अन्यथा लोकवेदविरुद्धः कं पक्षमव-लम्बेत। तस्मात् अविद्यामात्रकारणकं जगदिति साहसमात्रम्। अत्र वदामः—

यथा सतो जनिर्नैवमसतोऽपि जनिर्न च।
जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम् ॥ १६ ॥

रहा दूसरा पक्ष, वह भी नहीं बनता, क्योंकि अविद्याको कारण कहनेवाले वेदान्तियोंको भी अदृष्ट और ईश्वरादि जब कारण मानने पड़े तो लाघवात् उन अदृष्टादिसे ही विचित्र कार्यकी सिद्धि हो सकती है, फिर कारणरूपसे अभिमत कल्पित अज्ञान क्यों माना जाय ? इस तरह जबकि पदार्थोंको अविद्यायोनि नहीं मानते हैं, तो लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंको और पुत्र, पशु, स्वर्ग इत्यादिके प्रति यज्ञादिसाधनताका बोधक जो पूर्वकाण्ड है उसको प्रमाणता सिद्ध होती है। यदि इन सबकी प्रमाणताका स्वीकार न किया जाय तो लोक और वेदसे विरुद्ध हुआ वेदान्ती किस पक्षका आश्रयण करेगा, इसलिए केवल अविद्याको जगत्का कारण कह देना वेदान्तीका हठमात्र है। सिद्धान्तीके पक्षको लेकर पूर्वपक्षी कहता है कि अच्छा इसपर हम कहते हैं, सुनो—

जैसे सत्की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही असत् की भी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए कार्यका जन्यत्व होना ही मायिकत्व का बोधन करता है ॥१६॥

इसलिए चेतनसे अनधिष्ठित हुई अविद्या कार्य करनेके लिए स्वयं प्रवृत्त होती है। यह कहना होगा, पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि जड़शक्ति परतन्त्र है वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती।

† कार्य को तुम निर्वचनयोग्य मानते हो या अनिर्वचनयोग्य। इसमें यदि पहला पक्ष मानो तो बताओ कि वह कार्य आत्माकी तरह सत्रूप से निर्वचनीय है या शशविषाणवत् असत् रूपसे निर्वचनीय है इसमें एक कोई पक्ष तुमको मानना ही पड़ेगा तब तो कार्यत्वकी ही हानि हो जायगी, क्योंकि स्वसत्तासम्बन्धका नाम उत्पत्ति है। जब कि सत् रूप कार्य ठहरा तो स्वसत्तासम्बन्ध तो उसमें पहले ही से है, फिर सत्तासम्बन्धकी क्या आवश्यकता है, तात्पर्य

किमिदं कार्यं सत्यमसत्यं वा ? नाऽऽद्यः, एकमेवाद्वितीयमिति अद्वैत-मात्रपर्यवसितागमविरोधात्। अनुपपत्तेश्च—

तथाहि किमुत्पत्तेः पूर्वं कार्यं सदसद्वा ? असच्चेत्, तर्हि शश-विषाणमपि कारणव्यापाराज्जायेत, असत्त्वाविशेषात्। सच्चेत्, किं कारणव्या-पारेण, पूर्वमपि तस्य सत्त्वात् कार्यत्वव्याघाताच्च। अभिव्यक्तिमात्रं कारण-व्यापाराज्जायते इति चेत्, न; तत्राऽपि सत्त्वासत्त्वविकल्पग्रासत्रासानपा-

---

समाधान—क्या यह कार्य सत्य है या असत्य ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारादिसे सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य अद्वैतमात्रमें पर्यवसित 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुतिसे विरोध आवेगा। और युक्तिसे भी विरुद्ध है। उसीको दिखाते हैं—उत्पत्तिसे पूर्व कार्य सत् है या असत् ? यदि कहो कि असत् है तो शशशृङ्गकी भी कारणके व्यापारसे उत्पत्ति होने लगेगी।

[प्रश्न—सामग्रीके अभावमें शशशृङ्गकी उत्पत्ति कैसे हो जायगी ?]

समाधान—जो सामग्री असत् घटादिकी है, वही शशशृङ्गकी भी होगी दोनोंकी असत्तामें कोई विशेषता तो है ही नहीं, अर्थात् सत्-असत् सब एक-से हैं।

[प्रश्न—कार्य अत्यन्त असत् नहीं है, किन्तु उत्पत्तिसे पूर्व असत् है।

समाधान—असत्के साथ 'प्राक्' ऐसा विशेषण लगाना ठीक नहीं है। कदाचित् ऐसा मान भी लिया जाय, तो शशशृङ्ग भी वैसा ही होना चाहिये।] अब रहा सत् पक्ष। यदि कार्य सत् है तो कारण सामग्रीकी क्या आवश्यकता है, वह तो पहले ही से सिद्ध है। और कार्यत्वका व्याघात भी हो जायगा।

प्रश्न—हम किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं कहते, किन्तु कारणके व्यापारसे कार्यकी केवल अभिव्यक्ति होती है।

यह है कि उत्पत्तिवाला कार्य होता है सत्की उत्पत्ति ही नहीं होती, इसलिए प्रपञ्चका सत्रूपसे निर्वचन नहीं हो सकता। इसी तरह असत्की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वसत्ता-सम्बन्ध अथवा स्वकारणसंसर्गका नाम उत्पत्ति है। परन्तु असत् न तो सम्बन्धका आधार ही हो सकता है और न सम्बन्धका निरूपक ही हो सकता है। न कहीं ऐसा देखनेमें ही आता है। इसलिए असत्की भी उत्पत्ति नहीं होती है। यदि उभयविलक्षण कहो तो जैसा अनिर्वचनीय कार्य है, वैसी ही अनिर्वचनीय अविद्या उसकी कारण भी हुई, तो मायिक सिद्ध हुआ।

यात्। अस्तु तर्हि सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेव कार्यम्। एवं चेत् तर्हि कार्यानुरूपानाद्यनिर्वचनीयाज्ञानमेव कारणमुचितम्, सत्यस्याऽसत्यहेतुत्वानुपपत्तेः, लोके तथादर्शनात्। न च कार्यवैचित्र्यानुपपत्तिः, विचित्रशक्तिकस्यैवाऽज्ञानस्य कल्पनादित्युक्तम्। न च पूर्वकाण्डस्य प्रामाण्यानुपपत्तिः, तस्याऽपि साध्यसाधनभावमुखेन सत्त्वशुद्धिद्वारेण प्रवृत्तिद्वारेण वा

समाधान—यह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें भी यह प्रश्न उठता है कि वह अभिव्यक्ति सत्की होती है या असत्की ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जो पहलेसे ही सत् है, उसकी फिर अभिव्यक्ति क्या ? और दूसरे पक्षमें भी असत्की अभिव्यक्ति कैसे ? क्या शश-शृङ्ग भी कहीं प्रतीत होता है। इसलिए कार्यकी अभिव्यक्ति कहनेमें सत्त्व और असत्त्व रूप विकल्पका भय दूर नहीं हो सकता।

प्रश्न—अच्छा तो सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय ही कार्य मान लिया जाय।

समाधान—यदि ऐसा है, तो जैसा अनिर्वचनीय कार्य है, वैसे ही अनिर्वचनीय अज्ञानको उसका कारण मानना उचित है, क्योंकि सत्यका कारण असत्य नहीं हो सकता और लोकमें भी ऐसा ही देखनेमें आता है।

[शङ्का—लोकमें तो ऐसा देखनेमें नहीं आता, क्योंकि सीप सत्य है और वह असत्य रजतकी कारण है।

समाधान—यह तुम्हारी बड़ी भूल है, देखो सीप रजतकी कारण नहीं है किन्तु सीपका अज्ञान कारण है यदि सीपको कारण मानोगे तो बाधकालमें भी रजतबुद्धि होनी चाहिये इससे कहा है कि लोकमें भी ऐसा नहीं देखनेमें आता।]

शङ्का—तब तो कार्यकी विचित्रता नहीं बनेगी।

समाधान—अज्ञान भी विचित्रशक्तिवाला ही कल्पित है, इस बातको हम पहले कह आये हैं।

प्रश्न—ऐसा माननेसे वेदके पूर्व भागकी प्रमाणता न बनेगी।

समाधान—उस पूर्व काण्डका भी स्वर्गरूप साध्यसाधन द्वारा अथवा अन्तःकरणशुद्धि द्वारा या प्रवृत्ति द्वारा ब्रह्ममें ही तात्पर्य है, क्योंकि तात्पर्यविषयी

ब्रह्मणि एव तात्पर्य्यात्, तात्पर्य्यार्थे शब्दस्य प्रामाण्यात्। तस्मादविद्यायोनित्वं भावानां सुष्ठूक्तम्। अतोऽविद्याकल्पितस्य जगतः प्रतीतिसमकालीनमेव सत्त्वमुचितम्, रज्जुसर्पशुक्तिरजतगन्धर्वनगरस्वप्नप्रपञ्चेषु तथादर्शनात्।

अत्रेदं निरूपणीयम्—

प्रतीतिमात्रं सत्त्वं चेत् सत्त्वं प्रातीतिकं मतम्।
अविरोधात् ममाऽपीष्टं तद्भेदे वद का प्रमा?॥ १७॥

प्रतीतिसमकालीनं सत्त्वं जगत इति कोऽर्थः? किं प्रतीतिरेव सत्त्वम्? किं वा प्रतीतिव्यतिरेकेण जगतः पृथक् सत्त्वमस्ति। अन्त्ये तत्र प्रमाणमस्ति

भूत अर्थमें ही शब्दकी प्रमाणता मानी जाती है। इसलिए पदार्थोंको जो अविद्याकारणत्व कहा वह ठीक ही है। अतः अविद्याकल्पित जगत्का प्रतीतिसमकालीनसत्त्व (अर्थात् जितने समय तक जगत् प्रतीत होता है उतने ही समय तक उसकी सत्ता) उचित है*, क्योंकि रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, गन्धर्वनगर और स्वप्नप्रपञ्च इन सबमें प्रतीतिसमकालीन ही सत्ता देखनेमें आती है। जगत् की प्रातीतिक सत्ता होनेसे। हमको यहांपर आगेके विषयका निरूपण करना है।

प्रतीति ही यदि सत्त्व ठहरी तो सत्त्व प्रातीतिक कहलाया यह निर्दोष होनेसे हमको भी इष्ट है और यदि ज्ञान और ज्ञेयका भेद मानो तो कहो उसमें क्या प्रमाण है अर्थात् कोई भी प्रमाण नहीं है॥१७॥

यहांपर 'प्रतीतिसमकालीन ही जगत् की सत्ता है' इसका खुलाशा अर्थ दिखलाते हैं।

प्रश्न—क्या जगत्की प्रतीति ही सत्ता है या प्रतीतिसे पृथक् सत्ता है

समाधान—जगत्की प्रतीतिसे पृथक् सत्ता है।

---

* अर्थात् प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंसे अविद्यामें क्षोभ उत्पन्न होता है, तब क्षुब्ध हुई अविद्या जगदाकारसे और तत्तत् प्रतीतिके आकारसे एक ही परिणामको प्राप्त होती है, क्योंकि उसमें कोई नियामक तो है ही नहीं और क्रमसे परिणाम होनेमें कोई प्रयोजन भी नहीं है। वृत्तिको विषयजन्य मानना भी हमको स्वीकार नहीं हैं अर्थात् जैसे कि रज्जुसर्प और तदाकार प्रतीतिका एक ही साथ परिणाम होता है, वैसा ही प्रकृतमें भी जानो।

न वा? अस्ति चेत्, तत्र किं प्रत्यक्षमनुमानमागमोऽर्थापत्तिर्वा? प्रत्यक्षमिति चेत्, तत्र घटोऽयमिति यत् प्रत्यक्षमिदमेव स्वस्माद् घटस्य भेदं विषयीकरोति प्रत्यक्षान्तरं वा। स्वयमेव स्वविषयभेदं गृह्णाति प्रत्यक्षमिति चेत्, तत् किं स्वप्रकाशं परप्रकाशं वा? तत्राद्ये स्वविषयविशेषणत्वेन भेदस्य भानेऽपि विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वपक्षे स्वेनैव भेदलक्षणविशेषणविषयेण स्वयं जन्यते इति प्राप्तम्, तथा च आत्माश्रयः।

प्रश्न—इसमें कोई प्रमाण है या नहीं।

समाधान—प्रमाण है।

प्रश्न—क्या प्रामाण है प्रत्यक्ष है या अनुमान है अथवा शब्द है या अर्थापत्ति है?

समाधान—प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रश्न—अच्छा तो 'अयं घटः' यह जो प्रत्यक्ष है यही अपनेसे घटके भेदको विषय करता है या और कोई प्रत्यक्षान्तर है।

समाधान—'अयं घटः' यह प्रत्यक्ष अपने आप अपने विषय घटादिके भेदको ग्रहण करता है उसको प्रत्यक्षान्तरकी अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न—अच्छा तो यह प्रत्यक्ष स्वयंप्रकाशरूप है या परप्रकाश है।

समाधान—स्वयंप्रकाशरूप है।

[प्रश्न—तब तो अपनेसे अपनी उत्पत्ति हुई।

प्रश्न—कैसे?

समाधान—यहांपर यह विचार करना है कि घटनिष्ठ अपने भेदको ग्रहण करता हुआ प्रत्यक्ष विशेष्य घटके प्रति विशेषणत्वेन भेदका 'मत्तो भिन्नो घटः' इस तरहसे ग्रहण करता है या 'मद्घटयोर्भेदः' अर्थात् मेरा और घटका भेद है, इस तरह विशेष्यत्वेन ग्रहण करता है।

सारांश यह है कि भेद क्या घटका विशेषण है या विशेष्य है। और प्रत्यक्ष उसका विशेषणरूपसे साक्षात्कार करता है या विशेष्यरूपसे।

समाधान—विशेषणरूपसे साक्षात्कार करता है।]

प्रश्न—जबकि स्वविषय भेदका विशेषणत्वरूपसे भान हुआ तो [यह

विशेष्यत्वेन भेदस्य भाने विशेषणविशेष्योभयेन्द्रियसन्निकर्षमात्रं विशिष्टज्ञानकारणमिति पक्षे ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वं भेदोऽस्तीति वाच्यम्, तथा च तस्यैव ज्ञानस्य कथं स भेदो विषयः स्यात्, स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्यैवाऽभावात्।

ज्ञानान्तरस्य च स्वयंप्रकाशज्ञानाविषयत्वेन तत्प्रतियोगिकभेदाऽविषय-

---

प्रष्टव्य है कि विशिष्टज्ञान विशेषणज्ञान और विशेष्यके साथ इन्द्रिय सन्निकर्षसे होता है या विशेषण और विशेष्य इन दोनोंके साथ इन्द्रिय सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है ?]

समाधान—विशिष्टज्ञान विशेषणज्ञानसे होता है।

प्रश्न—तो इस पक्षमें अपने भेदरूप विशेषण विषयसे अपनी ही उत्पत्ति हुई।

समाधान—तो हानि क्या है ?

प्रश्न—आत्माश्रय दोष हुआ यही हानि है।

समाधान—अच्छा तो प्रत्यक्ष अपने भेदको विशेष्यत्वेन ग्रहण करता है हम विशिष्टज्ञानको विशेषणज्ञानजन्य नहीं मानते।

प्रश्न—यदि भेदका विशेष्यत्वेन भान मानो तो विशेषण और विशेष्य इन दोनोंके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष विशिष्टज्ञानका कारण हुआ इस पक्षमें ज्ञानोत्पत्तिसे पहले भेदकी सत्ता कहनी होगी * तब तो उसी ज्ञानका वह भेद कैसे विषय हो सकेगा, क्योंकि अपनी उत्पत्तिसे पहले अपना ही अभाव रहता है।

समाधान—उस ज्ञानका भी ज्ञानान्तर हम मान लेंगे।

---

* तात्पर्य यह है कि भेदका ग्राहक प्रत्यक्ष विशेषणविशेष्य उभय के सन्निकर्षसे जन्य है। इस पक्षमें भेदका विशेष्यत्वेन अथवा विशेषणत्वेन भान होनेपर भेदके साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष अवश्य पहले कहना होगा, क्योंकि भेदसन्निकर्ष ही तो विशिष्टभेदग्राहक प्रत्यक्षका जनक है और इन्द्रियसन्निकर्ष भेदका आश्रय ठहरा। उसके निमित्त भेदकी सत्ता पहले ही से माननी पड़ेगी, तब तो सन्देह यह होता है कि इन्द्रियसन्निकर्षका आश्रय जो भेद है वह स्वग्राहक प्रत्यक्षको किसी और से ज्ञात होकर जनाता है या सत्तामात्रसे जनाता है। यदि पहला पक्ष है, तो वह ज्ञान यही है या इससे भिन्न है। यदि यही है, तो स्वप्रत्यक्षका विषय नहीं बनेगा, क्योंकि अपनी उत्पत्तिसे पूर्व अपना अभाव रहा करता है, ऐसा एक नियम है।

त्वात् । अवर्त्तमानस्य ज्ञानस्य परप्रकाश्यत्वे वर्त्तमानकालोपाधि
स्वप्रकाशत्वमिति स्यात् । वर्त्तमानकाले ज्ञानस्वरूपमेव स्वप्रकाशमि
चेत्, न; अतीतानागतयोरपि तथात्वापत्तेः । नहि घटः कदाचि
अघट इति स्यात् । इन्द्रियसन्निकर्षाश्रयस्य भेदस्य स्वसत्तामात्रे
स्वविषयकज्ञानजनकत्वमित्यपि प्रक्रियामात्रम्, प्रमाणाभावेन सत्तामात्र
अपि असिद्धेः । अस्तु तर्हि परप्रकाशज्ञानपक्षे प्रत्यक्षान्तरेण ज्ञाना
ज्ञेयस्य भेदग्रहः ।

प्रश्न--अच्छा तो वह ज्ञानान्तर निर्विकल्परूप है या सविकल्परू
है ? इसमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि भेद सविकल्पकमात्र
वेद्य होता है । रहा दूसरा पक्ष, वह भी नहीं बन सकता, क्योंकि वह ज्ञानान्त
भी स्वयंप्रकाश ज्ञानका विषय नहीं है । इसलिए तत्प्रतियोगिक भेदको विष
नहीं कर सकता । यदि अवर्त्तमान (भूत और भविष्य) ज्ञानको पर प्रकाश
मानो तो वर्त्तमान कालोपाधिक स्वप्रकाश स्वतः हुआ इससे ज्ञान स्वाभाविक
स्वप्रकाश है, इस पक्षकी हानि हुई ।

समाधान--वर्त्तमान कालमें ज्ञानस्वरूप ही स्वयंप्रकाशरूप है ।

प्रश्न--यह नहीं हो सकता, यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो अती
अनागत कालमें भी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता सिद्ध रहेगी, क्योंकि
ज्ञानत्वमें कोई विशेषता तो है ही नहीं और जिस तरह घट कभी अघ
नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञान भी कदाचित् स्वयंप्रकाशरूप नहीं हो सकता
[अब इन्द्रियार्थसन्निकर्षका आश्रय जो भेद है, वह स्वसत्तामात्रसे स्वविषयक
प्रत्यक्षको जनाता है, इस पक्षका अनुवाद करके खण्डन करते हैं ।] इन्द्रिय
सन्निकर्षका आश्रय जो भेद है, वह स्वसत्तामात्रसे स्वविषयक ज्ञानको जनाता
है, यह भी एक प्रक्रियामात्र है, क्योंकि प्रमाणके अभावसे सत्तामात्रकी
सिद्धि नहीं हो सकती ।

प्रश्न--अच्छा तो परप्रकाश ज्ञानपक्षमें प्रत्यक्षान्तर (अर्थात् 'घटोऽयम्
इस प्रत्यक्षके द्वारा) ज्ञानसे ज्ञेय 'घट' का भिन्नरूपसे ग्रहण होता है, ऐसा
मान लिया जाय, तो क्या हानि है ?

समाधान--वह भेदका ग्रहण भी व्यावृत्त प्रतियोग्यादि (अर्थात् भेद

सोऽपि व्यावृत्तप्रतियोग्यादिग्रहपूर्वको न वेति विवेचनीयम्। न चेत् कथं भेदं विषयीकुर्य्यात्। नहि निर्द्धर्मिकं निष्प्रतियोगिकं वा भेदं कश्चित् प्रत्येति, अयमस्माद् भिन्न इति अनुभवात्।

व्यावृत्तप्रतियोग्यादिग्रहपूर्वकत्वे तु व्यावृत्तिग्राहकप्रत्यक्षान्तरान्वेषणे अनवस्था। तेनैव व्यावृत्तिग्रहे आत्माश्रयः। तस्माद् वस्तुमात्रावगाहि प्रत्यक्षं न भेदवार्त्तां जानातीति सिद्धम्।

अस्तु तर्हि अनुमानात् ज्ञानज्ञेययोर्भेदग्रहः। तथाहि विमतो विषयः, स्वविषयज्ञानाद् भिद्यते, तद्विरुद्धधर्माश्रयत्वात् यो यद्विरुद्धधर्माश्रयः स

पृथक् रूपसे स्थित जो प्रतियोगी और धर्मी इत्यादि) के ग्रहणपूर्वक है या नहीं, यह विवेचन करना चाहिये। यदि नहीं है तो वह प्रत्यक्षान्तर भी भेदका ग्रहण कैसे कर सकेगा, क्योंकि निर्धर्मिक और निष्प्रतियोगिक भेदका कोई भी साक्षात्कार नहीं कर सकता *, कारण कि 'अयं अस्माद्भिन्नः' अर्थात् यह इससे भिन्न है—ऐसा अनुभव होता है। इस अनुभवमें धर्मी और प्रतियोगीका भान होता है यह निष्प्रतियोगिक अनुभव नहीं है।

प्रश्न—अच्छा तो व्यावृत्त प्रतियोग्यादिके ज्ञानपूर्वक ही ज्ञानसे ज्ञेयका भेदग्रहण होता है, यही हम मान लेंगे।

समाधान—ऐसा मान लेनेसे भी व्यावृत्तिके ग्राहक प्रत्यक्षान्तरकी खोज करनी पड़ेगी, तब तो अनवस्था हो गई। यदि उसी प्रत्ययान्तरसे व्यावृत्तिका ग्रहण होना माना जाय, तो आत्माश्रय दोष आवेगा। इससे वस्तुमात्रका अवगाहन करनेवाला प्रत्यक्ष भेद की बात भी नहीं जानता, यह सिद्ध हुआ।

प्रश्न—अच्छा तो ज्ञान ज्ञेयके भेदका ग्रहण अनुमानसे सही उसीको दिखाते हैं। यह विमत विषय स्वविषय ज्ञानसे भिन्न है, तद्विरुद्ध धर्मका

---

* तात्पर्य यह है कि भेदको ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है या सविकल्पक? इसमें निर्विकल्पक तो कह नहीं सकते, क्योंकि समवायादि जिस तरह सविकल्पैकवेद्य हैं ऐसा ही भेद भी सविकल्पकमात्र वेद्य है। अब रहा सविकल्पक पक्ष उसमें भी यह प्रश्न उठता है कि वह सविकल्पक प्रमेयत्वेन भेद को विषय करता है या भेदत्वेन? इसमें प्रथम पक्ष तो निष्प्रयोजन है, क्योंकि प्रमेयत्वेन जलका ज्ञान होनेपर भी प्यासे मनुष्यकी प्यास शान्त नहीं होती। ऐसे ही भेद के बारेमें भी जानो, अब रहा दूसरा पक्ष कि 'भेदत्वेन भेद को विषय करना' वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मी और प्रतियोगीके सापेक्ष ही तो भेद है।

ततो भिद्यते यथा घटात् पटस्तथा चायं तस्मात् तथा। मैवं विरोधस्य भेदनिरूप्यत्वेन भेदासिद्ध्या विरोधासिद्धौ तद्विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य अपि असिद्धेः। साध्याप्रसिद्ध्या व्याप्त्यसिद्धेश्च। नहि घटपटयोर्भेदः केनचित् मानेन सिद्धो येन साध्यं प्रसिद्ध्येत्। प्रत्यक्षाभावे अनुमानान्तरानुसरणेऽपि अनवस्थादिदोषस्य तादवस्थ्यात्।

आश्रय होनेसे (अर्थात् ज्ञानसे विरुद्ध जो जड़त्व और अप्रकाशत्व धर्म हैं उन धर्मोंका आश्रय होनेसे) जो जिससे विरुद्ध धर्मका आश्रय होता है वह उससे भिन्न होता है, जैसे कि घटसे भिन्न पट, वैसे ही यह विषय भी है, इसलिए विरुद्ध धर्माश्रय होनेसे ज्ञानसे भिन्न है।

समाधान—'मैवम्' ऐसा मत कहो, क्योंकि विरोधका भेदसे निरूपण होनेसे भेदकी असिद्धि * होनेपर विरोधकी भी असिद्धि हुई तो उससे विरुद्ध धर्मोंका आश्रय होना यह बात भी असिद्ध ही रही। और भी सुनो, तुम ज्ञान प्रतियोगिक भेदको सिद्ध करते हो या भेदमात्रको? इसमें अन्त्य पक्षमें तो कुछ झगड़ा है ही नहीं। रहा पहला पक्ष, उसमें साध्यकी अप्रसिद्धिसे पक्षकी भी असिद्धि हुई तो आश्रयासिद्ध हुआ।

प्रश्न—हम यहाँपर ऐसा अनुमान करते हैं कि ज्ञान और ज्ञानके विषय ये दोनों परस्पर भिन्न हैं, विरुद्धधर्मके आश्रय होनेसे, जैसे कि घट और पट, यह हमको वक्तव्य है और परस्पर भेद भी घटादिमें ही प्रसिद्ध है, इसलिए अप्रसिद्ध विशेषणसे आश्रयासिद्ध दोष नहीं आता।

समाधान—व्याप्तिकी असिद्धि होनेसे यह कहना भी तुम्हारा ठीक नहीं है।

प्रश्न—व्याप्तिकी असिद्धि कैसे है?

समाधान—सुनो, घट और पटका भेद किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता, जिससे कि साध्यकी सिद्धि हो सके तात्पर्य यह है कि साध्यसाधनके

---

* तात्पर्य यह है कि विरोधका आश्रय होनेसे धर्मका विरुद्ध होना इसमें तो कोई झगड़ा है ही नही, परन्तु ज्ञान और ज्ञेयका विरोध भी तो भेदके जाननेपर ही जाना जायगा। यदि भेदका ज्ञान नहीं है, तो विरोधका ज्ञान कैसे होगा; क्योंकि वह तो भेदसे निरूप्य ठहरा अब ज्ञान और ज्ञेयका भेद है तुम्हारा साध्य जब उसकी अभी सिद्धि नहीं है तो तन्निरूप्य जो विरोधरूप धर्मविशेष है उसकी असिद्धिसे उसके आश्रयत्वकी भी असिद्धि है, इसलिए सिद्धान्तीने कहा है—'मैवम्'।

आगमस्याऽभेदमात्रे तात्पर्य्येण पर्य्यवसन्नस्य भेदबोधकत्वं शङ्कितुमपि अशक्यम् । ननु ब्रह्मणः सकाशात् सृष्टिं प्रतिपादयन्नागमः कार्य्यजातस्य ततो भेदमपि प्रतिपादयति । अभेदे ततो जन्मैव न स्यादिति चेत्, न; सृष्टिवाक्यस्य सर्वस्य प्रधानादिपरपरिकल्पितकारणान्तरनिराकरणपरस्य मृद्घटादौ कारणात् कार्य्यस्य भेदेनाऽनिरूपणवद् ब्रह्मणः कारणात् कार्य्य-जातस्य सर्वस्य भेदेनाऽनिरूपणेनाऽद्वितीयब्रह्मसम्भावनामात्रे तात्पर्य्यात् ।

(साथ रहना रूप) सम्बन्ध व्याप्ति है और सम्बन्धके उभयनिरूप्य होनेसे, दोनों सम्बन्धियोंको सत् होना चाहिये । प्रमाणके अभावसे तुम्हारा साध्य दृष्टान्तमें भी सत् नहीं है, इसलिए साध्यकी अप्रसिद्धिसे तन्निरूपित व्याप्तिकी भी सिद्धि नहीं हुई । इसी प्रकार प्रत्यक्षका अभाव होनेपर अनुमानका अनुसरण करनेसे भी अनवस्थादि दोष ज्योंके त्यों रहे ।

अब रहा शास्त्रप्रमाण, वह भी तात्पर्यरूपसे अभेदमात्रमें पर्यवसित है, इसलिए उसकी भेदबोधकतामें शङ्का ही नहीं हो सकती ।

प्रश्न—शास्त्र भेदबोधक क्यों नहीं है? ब्रह्मसे सृष्टिका वर्णन करता हुआ जो 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वेदशास्त्र है, वही कार्यमात्रका ब्रह्मसे भेद भी कहता है । अभेद होनेपर तो जन्म ही न होता ।

समाधान—तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'यतो वा इमानि' यह श्रुति अचेतन प्रधानसे और परिच्छिन्न ज्ञानशक्तिवाले हिरण्यगर्भसे जगत्की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है, इस बातको कहती है [अर्थात् सांख्यादिसे परिकल्पित प्रधानादिके खण्डनमें उक्त श्रुतिका तात्पर्य है] जैसे मिट्टी और घट आदिमें कार्यसे कारणका भेदसे निरूपण नहीं है, वैसे ही श्रुतिने कारणरूप ब्रह्मसे सम्पूर्ण कार्यका भेदरूपसे निरूपण नहीं किया है, किन्तु श्रुतिका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्मसम्भावना-मात्रमें है [अर्थात् विजातीय भेदशून्य ब्रह्मकी जो सम्भावना, अर्थात् अद्वितीय ही ब्रह्म हो सकता है ऐसी सम्भावना, उसमें सृष्टिवाक्यका तात्पर्य है ।

प्रश्न—यदि मिट्टी और घटका अभेद ही माना जाय, तो पूर्वोत्तरभाव अर्थात् कारणका पहलेसे रहना और कार्यका पीछे होना आदि नहीं बनेगा । उसके न बननेसे पूर्वोत्तरभावसे व्याप्त जो कार्यकारणभाव है, वह भी भेदके बिना नहीं बन सकेगा अर्थात् भेदके माने बिना कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, इसलिए सृष्टिवाक्य भेदपरक क्यों न माना जाय ?]

अन्यथा भेदपरत्वे तन्निषेधोऽनर्थकः स्यात् । किञ्च, सृष्टिवाक्यं न ताव साक्षाद् भेदं प्रतिपादयति, भेदवाचकपदाभावेनाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वा भावात् । पदार्थस्यैव संसृष्टत्वेन वा धर्मिमात्रपरत्वेन वा वाक्यप्रतिपाद्यत्वात् कल्पनायाश्च निषेधवाक्यविरोधेनाऽनुत्थानात् । न च ज्ञानमेव स्वातिरिक्त ज्ञेयव्यतिरेकेणाऽनुपपन्नं स्वभिन्नं ज्ञेयं विषयीकरोति । नहि निर्विषयं ज्ञानं

समाधान—यदि सृष्टिवाक्य भेदपरक होता तो 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिसे भेदका निषेध करना व्यर्थ हो जाता, क्योंकि एक अखण्ड वस्तुके दिखानेके निमित्त ही तो भेदका निषेध किया जाता है । अर्थात् यदि भेद श्रुति-तात्पर्यका विषय होता तो अखण्ड वस्तुकी सिद्धि न होती । और भी एक युक्ति है, वह यह कि सृष्टिवाक्य साक्षात् भेदका प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि उसमें कोई भेदवाचक पद ही नहीं है और अपदार्थ वाक्यार्थ भी नहीं होता ।

प्रश्न—जैसे शत्रुके घरमें भोजनका निषेध करानेवाला 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि अपदार्थ होनेपर भी वाक्यार्थ होता है, वैसे ही ब्रह्म और जगत्‌का भेद अपदार्थ होनेपर भी सृष्टिवाक्यार्थ क्यों नहीं होगा ?

समाधान—संसृष्टरूपसे अथवा धर्मिमात्रपरक होनेसे पदार्थ ही साक्षात् वाक्यप्रतिपाद्य होता है, इसलिए परगृहभोजननिवृत्तिके अपदार्थ होनेसे उसमें साक्षात् वाक्यार्थता नहीं है और पुरुषकल्पनाका भी उत्थान नहीं हो सकता, क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस निषेधवाक्यसे विरोध आता है अर्थात् श्रुतिके सामने पुरुषकी कल्पना तुच्छ है ।

प्रश्न—अपनेसे अतिरिक्त जो ज्ञेय अर्थात् घटादि पदार्थ हैं उनके बिना ज्ञान असिद्ध है, इसलिए ज्ञान अपनेसे भी भिन्न ज्ञेयको विषय करता है [तात्पर्य यह है कि जैसे दाह्यके बिना अग्नि अपने स्वरूपको नहीं पा सकती वैसे ही ज्ञेयके बिना ज्ञान भी अपने स्वरूपको नहीं पा सकता, इसलिए ज्ञेयका होना आवश्यक है । वृत्तिके विरोधसे वही जीव स्वयं ज्ञेय नहीं हो सकता । इस कारण ज्ञान ही अपनेसे भिन्न जो ज्ञेय उसके बिना अनुपपन्न होनेसे ज्ञेयकी कल्पना करता है । इस तरह ज्ञान और ज्ञेयका भेद सिद्ध हुआ] और निर्विषय ज्ञानका संभव भी नहीं है * और ऐसा कहीं देखनेमें भी नहीं आता, किन्तु ज्ञान

---

* तात्पर्य यह है कि ज्ञान वस्तुका प्रकाशक है । यदि बाह्य पदार्थ अत्यन्त असत् मा

सम्भवति दृष्टं वा सविषयस्यैव भासमानत्वात् अन्यथा निष्प्रकारकमेव भासेत। ज्ञाने विषयातिरिक्तस्य प्रकारस्य अभावादिति वाच्यम्, ज्ञेयव्यतिरेकेण ज्ञानस्य अनुपपत्त्यभावात्।

तथाहि तत् किं ज्ञानस्य ज्ञेयव्यतिरेकेण उत्पत्त्यनुपपत्तिः स्थित्यनुपपत्तिर्ज्ञप्त्यनुपपत्तिर्वा? नाद्यः, ज्ञानस्य स्वरूपत उत्पत्त्यभावात्। भावे वा प्रमाणतदाभासाभ्यामेव तदुत्पादनसम्भवे विषयानपेक्षणात् ज्ञानस्य सर्वत्र विषयजन्यत्वे नियमाभावात्।

नाऽपि स्थित्यनुपपत्तिः, विषयस्य ज्ञानानाश्रयत्वात्; तथात्वे वा विष-

---

सविषयक ही सर्वत्र भासमान होता है, नहीं तो निष्प्रकारक ही भासने लगता ऐसा होता नहीं है। और ज्ञानमें विषयसे अतिरिक्त कोई प्रकार भी नहीं है जिससे वह सप्रकारक होकर भासने लगे।

समाधान—यह मत कहो, क्योंकि ज्ञेयके विना ज्ञानकी अनुपपत्ति ही नहीं है, अर्थात् ज्ञेयके विना भी ज्ञानकी सिद्धि हो सकती है। उसी बातको दिखाते हैं, क्या ज्ञेयके विना ज्ञानकी उत्पत्तिकी असिद्धि है या उसके विना ज्ञानकी स्थिति नहीं हो सकती है अथवा उसकी ज्ञप्तिकी अनुपपत्ति है। इन तीनों पक्षोंमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानकी स्वरूपतः उत्पत्ति ही नहीं है फिर कैसे कह सकते हो कि ज्ञान की उत्पत्तिकी असिद्धि है। यदि कुछ देरके लिए ज्ञानकी उत्पत्ति मान भी लें, तो प्रमाण या प्रमाणाभाससे उसकी उत्पत्ति हो सकती है फिर उत्पत्तिमें विषयकी क्या अपेक्षा है, अर्थात् कुछ आवश्यकता नहीं है। और ज्ञान सर्वत्र विषयजन्य ही होता है, ऐसा कोई नियम भी नहीं है, क्योंकि अनुमित्यादि स्थलमें इसका व्यभिचार है।

अब रहा दूसरा पक्ष, वह यह कि ज्ञेयके विना ज्ञानकी स्थिति नहीं हो सकती, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात तब हो सकती, जब विषय

जाय तो ज्ञान किसका प्रकाशक होगा? इसलिए ज्ञान वस्तु निरूप्य है तो विषयके अभावमें उसके स्वरूपका ही सम्भव नहीं हो सकता। कदाचित् तुम यह कहो कि किसी भूतलके घटवान् होनेपर भी दूसरा भूतल घटरहित भी है, यह बात जिस तरह सम्भव हो सकती है, वैसे ही किसी ज्ञानके सविषय होनेपर भी ज्ञानान्तर निर्विषय क्यों नहीं? इसपर वादी कहता है 'सविषयस्यैव' अर्थात् सविषय ज्ञान ही भासमान हो सकता है, निर्विषय भासित नहीं होता।

यत्वव्याघातात् । ज्ञानविषयकज्ञानस्य विषयज्ञानाधीनत्वेन ज्ञेयं वि
ज्ञप्त्यनुपपत्तिरस्त्विति चेत्, नः ज्ञानस्य स्वयम्प्रकाशमानत्वेन स्वव्य
वहारार्थं स्वातिरिक्तानपेक्षणात् । परप्रकाशत्वेन ज्ञानान्तरापेक्षायां तस्या
अन्यतस्तस्याऽपि अन्यत इति अनवस्थित्या ज्ञानासिद्धौ जगदान्ध्यप्रसङ्गात्

अज्ञायमानस्यैव ज्ञानस्य स्वविषयसाधकत्वे प्रमाणाभावेन नरशृङ्ग
तुल्यस्य स्वरूपसत्त्वासिद्धेः । अस्तु वा ज्ञानस्य स्वज्ञानार्थं ज्ञानान्तरापे

ज्ञानका आश्रय होता, परन्तु वह ज्ञानका आश्रय नहीं है; विषयको ज्ञान
आश्रय माननेपर विषय ही नहीं रहेगा। [सारांश यह है कि ज्ञानाश्र
प्रमाता है और विषय ठहरा प्रमेय, यदि विषयको ज्ञानाश्रय मानोगे तो विषय
त्वका ही व्याघात (नाश) हो जायगा ।]

प्रश्न—अच्छा तो ज्ञानविषयक ज्ञानके विषयज्ञानके अधीन, (विषय
भिन्नज्ञानजन्य) होनेसे ज्ञेयके बिना उसकी ज्ञप्ति (प्रतीति) का न होन
ही ज्ञान और ज्ञेयके भेदमें प्रमाण हो ।

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्वयंप्रकाशमान है, अत
वह अपने व्यवहारके लिए अपनेसे भिन्नकी अपेक्षा नहीं रखता । यदि ज्ञानको
परप्रकाश मानकर उसको ज्ञानान्तर (अन्य ज्ञान) की अपेक्षा है, ऐसा माना जाय
तो उस ज्ञानान्तरको भी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा रहेगी और उसको भी चौथे
ज्ञानकी अपेक्षा रहेगी, इस तरह अनवस्था होनेसे ज्ञानकी ही सिद्धि न होगी
जगत् अन्धा हो जायगा । * और यदि अज्ञायमान ज्ञानको ही विषयकसाधक
मानो, तो प्रमाणके अभावसे ज्ञान नरशृङ्गके तुल्य हो जायगा इस दशामें
उसकी स्वरूपसत्ता ही सिद्ध न होगी ।

अथवा ज्ञानको स्वज्ञानके लिए ज्ञानान्तरकी अपेक्षा भले ही रहे

---

* तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान नहीं जाना जाता उसीकी असत्त्वापत्ति होनेसे
तद्विषयक ज्ञानकी भी प्रमाणाभावसे असत्त्वापत्ति रही । पश्चात् उस ज्ञानधाराकी भी असत्त्वापत्ति
होनेपर मूलभूत ज्ञान कोई सिद्ध न हुआ । तब तो जड़प्रपञ्चकी स्वयंसिद्धि न होनेसे
वह प्रतीत ही न होगा । इसलिए ज्ञानको परप्रकाश मानना अयोग्य है ।

तथाऽपि विषयापेक्षणं कुतः विषयज्ञानस्यैव अपेक्षणात्। ज्ञानसामान्यस्य अनपेक्षणे स्वविषयव्यावृत्तज्ञानापेक्षायां विषयापेक्षापि अवश्यम्भाविनी इति तत्तुच्छम्, ज्ञानस्य स्वत एव व्यावृत्तत्वात् परसिद्धजात्यादिवत्।

तथापि ज्ञानस्य ज्ञेयव्याप्तत्वात् ज्ञेयं बोधयति इति चेत्, न; व्याप्तय-

---

तो भी उसको विषयकी अपेक्षा नहीं हो सकती है अर्थात् विषयीभूत ज्ञानका जो विषय है उसकी अपेक्षा ज्ञानविषयक ज्ञानको कैसे हो सकती है, किन्तु उस ज्ञानान्तरको विषय ज्ञानकी ही अपेक्षा रहेगी। [अर्थात् ज्ञानकी जो ज्ञप्ति है, वह स्वविषय ज्ञानकी ही अपेक्षा रखती है ज्ञानविषयीभूत जो ज्ञान उसके विषयकी भी अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि स्वविषयी जो ज्ञान तन्मात्रसे ही वह ज्ञप्ति चरितार्थ हो जाती है।]

प्रश्न—ज्ञानकी ज्ञप्तिको सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा न रहनेपर अपने विषयसे भिन्न ज्ञानकी अपेक्षा रही तो विषयकी अपेक्षा भी अवश्य रही †।

समाधान—यह तुम्हारी बात तुच्छ है, क्योंकि जैसे वैशेषिक आदिने घटत्व, पटत्व आदि जातियोंको स्वतः व्यावृत्तरूप माना है, वैसे ही ज्ञान भी स्वतःव्यावृत्तस्वरूप है ‡।

प्रश्न—जिस तरह दाह्यव्याप्त वह्नि (लकड़ीमें व्याप्त हुई अग्नि) दाह्यको

---

† वादीका तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी ज्ञप्तिमें क्या ज्ञानसामान्य ही विषय है या विशेषज्ञान विषय है इसमें पहला पक्ष तो बनेगा नहीं, क्योंकि 'घटज्ञानम्' ऐसा उसका आकार होनेसे ज्ञानमात्रके विषय कहना अयोग्य है, क्योंकि तन्मात्रकी अपेक्षा न रही। अब यदि दूसरा पक्ष है तो ज्ञानविशेषके विषयके अधीन होनेसे विषयके अभावमें ज्ञानकी ज्ञप्तिकी उत्पत्ति कैसे होगी।

‡ सिद्धान्तीका कहना यह है कि विषय ज्ञानमें व्यावृत्तिका हेतु है या ज्ञानमें व्यावृत्तिकी प्रतीतिका हेतु है ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि व्यावृत्तिके अन्योन्याभावरूप होनेसे वह जन्य है और यदि उसको जन्य कहो तो उसकी उत्पत्तिसे पहले ज्ञान सबसे अभिन्न स्वभाववाला उत्पन्न हुआ तब तो विषयसे व्यावृत्तिकी उत्पत्ति होनेपर अपने स्वभावको क्यों न छोड़ेगा। और अतीत-अनागत-विषयक ज्ञानमें भी अव्यावृत्तत्व प्रसंग होगा। अब रहा दूसरा पक्ष उसमें यह प्रष्टव्य है कि यदि विषय अपने ज्ञानमें व्यावृत्तिका बोधन कराता है तो असती व्यावृत्तिका बोध कराता है या सती व्यावृत्तिका ? इसमें असत्के प्रकाश न होनेसे पहला पक्ष ठीक नहीं है, दूसरे पक्षमें भी ज्ञानव्यावृत्तिकी सत्ता विषयाधीन नहीं है, किन्तु जातिके तुल्य स्वतःव्यावृत्त है।

सिद्धेः ज्ञानज्ञेययोर्विभिन्नदेशत्वेन सामानाधिकरण्याभावात्। अतीतानागतार्थज्ञानदर्शनेनैककालत्वस्य अपि असिद्धेः। तस्मात्,

प्रत्येतव्यप्रतीत्योश्च भेदः प्रामाणिकः कुतः ?
प्रतीतिमात्रमेवैतद्भाति विश्वं चराचरम् ॥ १८ ॥
ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वाप्नं प्रतीयते।
विज्ञानमात्रमेवैतत् तथा जाग्रच्चराचरम् ॥ १९ ॥

जलाती है, वैसे ही ज्ञेयव्याप्त ज्ञान भी ज्ञेयका बोध कराता है।

समाधान—यह दृष्टान्त विषम है, क्योंकि जब कभी जहांपर वह्नि रहती है तब वहाँपर दाह्य भी अवश्य रहता है, इसलिए ठीक ही हुआ कि अग्नि दाह्य (काष्ठादि) को जलाती है। परन्तु प्रकृतमें तो ज्ञान और ज्ञेयकी व्याप्ति ही नहीं है, क्योंकि भिन्नदेशस्थ होनेके कारण ज्ञान और ज्ञेयके सामानाधिकरण्यका अभाव है और ज्ञान और ज्ञेयके एककालत्वका भी अभाव है, क्योंकि वह अतीत-अनागतविषयक भी दिखाई देता है। यहाँपर संग्रह श्लोक हैं—

ज्ञान और ज्ञेयका भेद प्रामाणिक कैसे हो सकता है ? यह सम्पूर्ण चराचर विश्व प्रतीतिमात्र (ज्ञानरूप ही) भास रहा है। [*तात्पर्य यह है कि जड़ प्रपञ्चको अपनी सिद्धिके लिए अवश्य ज्ञानकी अपेक्षा है, परन्तु ज्ञानको विषयकी अपेक्षा नहीं है, यह सिद्ध किया जा चुका है, इसलिए ज्ञानमें ही विषयका अन्तर्भाव हो जाता है ॥१८॥*

शङ्का—यदि प्रतीतिमात्र ही जगत् है, प्रतीतिसे भिन्न नहीं है तो चराचररूप जगत्में कहीं अभेदसे और कहीं नानारूपसे प्रतीति क्यों होती है ?]

समाधान—जैसे कि स्वप्नावस्थाका जगत् विज्ञानस्वरूप होनेपर भी ज्ञान, ज्ञेय, आदि भेदसे प्रतीत होता है (अर्थात् स्वप्नमें विज्ञान ही ज्ञेयरूपसे और ज्ञानरूपसे प्रतीत होता है) वैसे ही यह विज्ञानमात्र ही जाग्रत्कालीन चराचररूप जगत् कहीं भेदसे और कहीं अभेदसे भासमान होता है। [*इसलिए उसका भान होना अर्थात् भेद और अभेदरूपसे भान होना कुछ अनुपपन्न (युक्तिशून्य) नहीं है ॥ १९ ॥*

तन्तोर्भेदे पटो यद्वच्छून्य एव स्वरूपतः ।
आत्मनोऽपि तथैवेदं भानमात्रं चराचरम् ॥ २० ॥
रज्जुर्यथा भ्रान्तदृष्ट्या सर्परूपा प्रकाशते ।
आत्मा तथा मूढबुद्ध्या जगद्रूपः प्रकाशते ॥ २१ ॥

शङ्का—विज्ञान ही जगत् रूपसे भासता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हो विज्ञानसे भिन्न स्वतन्त्ररूपसे जगत् भासता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं करते ?]

*जैसे कि वास्तवमें पट तन्तुभेदसे शून्य है अर्थात् तन्तुरूप ही है उससे भिन्न पट कोई चीज नहीं है, वैसे ही प्रतीतिसिद्ध यह चराचर जगत् भी आत्मासे यदि स्वरूपतः भिन्न होता तो शून्य होता** इसमें भानमात्र होना यह हेतु है [*भान प्रकाशको अर्थात्* चैतन्यको कहते हैं, वह प्रकाशता वास्तवमें *आत्मामें ही पर्यवसित (समाप्त) होती है,* इसलिए *यह ठीक है कि आत्म-भेदमें जगत् असत् है ॥ २० ॥*

शङ्का—यदि चिदात्माका जगत्रूपसे भान होता है तो वह विकारी हो जायगा ।

समाधानं—विवर्त्तवादका आश्रय करनेसे यह दोष नहीं आ सकता । इसी बातको कारिकासे दिखाते हैं ।]

जैसे भ्रान्तदृष्टिसे रज्जु सर्परूपसे प्रतीत होती है, वैसे ही आत्मा भी मूढ़दृष्टिसे जगत्रूपसे भासता है ॥२१॥

[शङ्का—अज्ञात रज्जु सर्परूपसे भासती है यह बात ठीक है, क्योंकि वह सर्पकी अधिष्ठान है परन्तु आत्माका तो अज्ञानवशसे भी जगत्रूपसे भान नहीं हो सकता, क्योंकि वह आत्मा जगत्का निमित्तमात्र है, अधिष्ठान नहीं है ।

समाधान—आत्मा जगत्का निमित्त कारण नहीं है, किन्तु उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण होनेसे जगत्का उपादान कारण है, इसलिए

* आशय यह है कि कारणकी सत्ता ही कार्यकी सत्ता है, स्वतन्त्ररूपसे कार्यकी सत्ता नहीं है । यदि कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता होती तो तन्तुके अभावमें भी पट होता ।

शङ्का—पटके प्रति तन्तुओंके समवायी कारण होनेसे वे पटके आश्रय हैं, इसलिए तन्तुओंके अभावमें पट नहीं ठहर सकता । परन्तु एतावता तन्तुकी सत्ता ही पटकी सत्ता नहीं हो सकती ।

समाधान—यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है । जैसे कि हिमालय और विन्ध्याचलका परस्पर भेद होनेसे कार्यकारणभाव नहीं बनता है, वैसे ही प्रकृतमें जानो अर्थात् अत्यन्त भेदमें कार्यकारणभाव बनता ही नहीं है ॥

आत्मन्येव जगत्सर्वं दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम् ।
उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः ॥ २२ ॥
पूर्णानन्दाऽद्वये शुद्धे पाप्मदोषादिवर्जिते ।
प्रतिबिम्बमिवाभाति दृष्टिमात्रं जगत्त्रयम् ॥ २३ ॥

अज्ञात आत्माको जगत्का अधिष्ठान कहना ही उचित है। इस बातको कारिकासे दिखाते हैं ।]

तत्त्वोंके सहित यह समस्त दृष्टिमात्र जगत् आत्मामें उत्पत्ति और स्थिति को प्राप्त होकर वार वार लयको प्राप्त होता है ॥२२॥

[शङ्का—परिच्छिन्न जगत्रूप होनेसे आत्मा जड़ हो जायगा और जगत् दुःख-रूप है तन्मय आत्माके माननेसे वह दुःखी हो जायगा तथा जगत् नाना रूप है तन्मय ही यदि आत्मा है तो नाना आत्मा सिद्ध होंगे यह भी तुमको अनिष्ट है और आत्मामें अशुद्धिका निवारण भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि तुम आत्माको जगत्मय मानते हो और जगत् अशुद्धिमय है तुम्हारा आत्मा धर्मादि-मय भी होगा, क्योंकि धर्मादिकी अपेक्षाके बिना आत्मा जगत्को उत्पन्न ही नहीं करता नहीं तो वैषम्य दोष आ पड़ेगा, कदाचित् यह कहा कि आत्मा जीवों के अदृष्टका उपजीवन करता है अपने अदृष्टका नहीं। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मतमें जीव और ब्रह्मका अभेद है। और भी दोष है—जैसे कि दहीके आकारको प्राप्त होनेपर फिर दूध नहीं रहता, दही ही अवशिष्ट रहती है वैसे ही आत्माके जगद्रूप होनेपर उसका अभाव हो जायगा ।

समाधान—इन पूर्वोक्त दोषोंमें से एक दोष भी आत्मामें नहीं आ सकता है, क्योंकि अज्ञानवशसे आत्माकी परिच्छिन्नादि जगत्रूपता है वास्तवमें नहीं है, इसी बातको आगेकी कारिकासे दिखाते हैं ।]

समस्त पाप, दोषादिसे रहित, शुद्ध, पूर्ण, आनन्द और अद्वितीय आत्मामें दृष्टिमात्र तीनों जगत् (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कालीन) प्रतिबिम्बके समान प्रतीत होते हैं। [अर्थात् जैसे बिम्बके समीपमें दर्पण प्रतिबिम्बरूपसे प्रतिभासित होता हुआ भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता, क्योंकि प्रतिबिम्बाकार मिथ्या है। वैसे ही आत्मा भी जगदाकारके मिथ्या होनेसे जगदाकाररूपसे प्रतीत होता हुआ भी अपने स्वरूपको नहीं छोडता है] ॥२३॥

तदुक्तं भगवता वसिष्ठेन—

'तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥

तथा—यस्य चित्तमयी लीला जगदेतच्चराचरम् ।
तस्य विश्वात्मकत्वेऽपि खण्ड्यते नैकपिण्डता ॥'

तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत् आत्माश्रयविषयेण अज्ञानेन कृतमिति आत्मनोऽज्ञानविषयत्वं साधु विकल्पितम् । तथा च आत्मनि लौकिकवैदिकप्रमाणासम्भवेन शशविषाणादिवदसत्त्वे प्राप्ते कुतस्तत् साक्षात्काराय शास्त्राभ्यर्थना कुतस्तरां युक्त्यपेक्षा इति संक्षेपः ।

यही बात भगवान् वसिष्ठजीने कही है, उसीको दो श्लोकोंमें कहते हैं—

उस चैतन्यरूपी विस्तृत दर्पणमें यह सम्पूर्ण वस्तुदृष्टि प्रतिविम्बित होती है इसपर दृष्टान्त हैं—जैसे कि विस्तृत तालाबमें उसके किनारेके वृक्ष प्रतिविम्बित होते हैं । जिसकी चित्तमयी लीला यह चराचर विश्व है, उसके विश्वात्मक होनेपर भी एकपिण्डता—अद्वितीयता—खण्डित नहीं हो सकती है ।

सो इस प्रकार दृष्टिमात्रात्मक यह जगत् आत्माके आश्रित और उसीको विषय करनेवाले अज्ञानसे निर्मित हुआ है । इस तरह तुमने जो—आत्माको अज्ञानका विषय कहा वह क्या अच्छा किया [अर्थात् यह अच्छा नहीं किया । यह विकल्पित है प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वयंप्रकाशमान आत्माको अज्ञानका विषय कहना अयुक्त है, यह बात पहले सिद्ध हो चुकी है, इस कारण सिद्धान्तीके मतकी सिद्धि न हुई] उसीको दिखाते हैं, जब आत्मामें लौकिक और वैदिक दोनों प्रमाणोंका सम्भव न होनेसे शशशृङ्गके समान आत्मा असत् हुआ तब तो उसके साक्षातकारके लिए शास्त्रकी अभ्यर्थना कैसे हो सकती है और युक्तिकी अपेक्षा भी कैसे हो सकती है यह संक्षेपसे पूर्वपक्षीने कहा* ।

---

* 'अत्र वदन्ति' यहांसे लेकर 'इति संक्षेपः' यहांतक पूर्वपक्षीने सिद्धान्तीका मत लेकर एकदेशी 'मण्डनमतानुयायियों' का खण्डन किया और ज्ञान और ज्ञेयका विभाग अप्रामाणिक ठहराया। इस दशामें दृष्टि और दृश्य (ज्ञान और ज्ञेय) इन दोनोंमें से एक शेष रहना चाहिये। दृष्टि शेष है या दृश्य ? इसपर कहते हैं कि दृश्य सापेक्ष है और दृष्टि निरपेक्ष है, इसलिए दृष्टि ही शेष रह सकती है, दृश्य नहीं, अत एव मूलमें 'दृष्टिमात्रात्मकम्' कहा है। अब आगे पूर्वपक्षीका और सिद्धान्तीका प्रश्नोत्तर चलेगा, एकदेशी और वादीका खण्डन हो चुका।

एवं प्राप्ते अभिधीयते—

यत्तत्त्वं वेदगुप्तं परमसुखतमं नित्यमुक्तस्वभावं
सत्यं सूक्ष्मात् सुसूक्ष्मं महदिदममृतं मुक्तमात्रैकगम्यम्।
यस्यांऽशे लेशमात्रं जगदिदमखिलं भ्रान्तिमात्रैकदेहं
प्रत्यग्ज्योतिःस्वरूपं शिवमिदमधुना कथ्यते युक्तितोऽत्र ॥२४॥

किं तत्र प्रमाणाभावेन आत्मनः स्वरूपानुपपत्तिः प्रतीत्यनुपपत्तिर्वा? नाद्यः, आत्मस्वरूपस्य नित्यतया इतरनिरपेक्षत्वात् प्रमाणस्य स्वप्रमेया-

---

अब सिद्धान्ती कहते हैं—ऐसा दोष प्राप्त होनेपर इस विषयमें हम कहते हैं†—

जो तत्त्ववस्तु वेदोंमें गुप्त है, परम सुखस्वरूप है, नित्य-मुक्तस्वभाव है, सत्य है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, महान् है, अमृतस्वरूप है, मुक्तपुरुषमात्रगम्य है, जिसके एक अंशमें यह समस्त भ्रान्तिरूप जगत् स्थित है, जो प्रत्यक् और ज्योतिस्वरूप है एवं कल्याणमय है, उस वस्तुको हम युक्तिपूर्वक यहांपर कहते हैं ॥ २३ ॥

तुम जो आत्मामें प्रमाण चाहते हो वह क्या आत्माके स्वरूपलाभके लिए चाहते हो या आत्माकी प्रतीतिके लिए? (अर्थात् प्रमाणके अभावसे आत्माके स्वरूपकी अनुपपत्ति होगी या प्रतीतिकी अनुपपत्ति होगी) तुमने क्या दोष समझा?

पूर्वपक्षी—प्रमाणके न होनेसे आत्माके स्वरूपकी असिद्धि होगी।

सिद्धान्ती—नहीं, आत्माका स्वरूप नित्य है, उसको दूसरेकी अपेक्षा ही नहीं है [तात्पर्य यह है कि भावकी नित्यता अकार्यत्वसे कही जाती है। आत्मा अकार्य है अतः नित्य है, इसलिए स्वरूपलाभके लिए आत्मा प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखता] और प्रमाण स्वप्रमेयका उत्पादक भी नहीं है।

---

† इस ग्रन्थके आदिमें जो यह कहा गया था कि आत्मामें प्रमाण है या नहीं? उसमें प्रष्टव्य यह है कि आत्माशब्दसे तुम क्या लेते हो? क्या विशिष्ट अव्याकृत जीवादिशब्द-वाच्य आत्मा लेते हो या शुद्ध चिदानन्दरूप लेते हो? यदि पहला पक्ष है, तब तो प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेपर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसके प्रकाशरूप न होनेसे भास्यत्व होनेपर भी कुछ विरोध नहीं आता। यदि प्रमाण प्रवृत्त न हो, तो भी दोष नहीं है। क्योंकि वह प्रतिपाद्य ही नहीं है, उसमें प्रमाणकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्तिकी चिन्ता करना व्यर्थ है। तब क्या प्रतिपाद्य है? जो कुछ हमारा प्रतिपाद्य है, उसको श्लोकमें दिखाते हैं—यत्तत्त्वमिति।

नुत्पादकत्वाच्च। द्वितीये प्रमाणेऽपि तर्हि प्रमाणान्तरं वाच्यम्, तदभावे नरशृङ्गवदसत्त्वेन स्वप्रमेयसाधकत्वासम्भवात्। तथा च प्रमाणे प्रमाणान्तरानुसरणे अनवस्थितेः प्रमाणेनैव वस्तुसिद्धिः इति अभिमानमात्रम्। अथ प्रमाणं प्रमाणान्तरनिरपेक्षमेव स्वं स्वप्रमेयं च साधयति, स्वप्रकाशस्वभावस्य तस्य स्वपरव्यवहारे प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वात्, प्रदीपप्रकाशवत्। नहि सर्वस्य साधकं प्रमाणं स्वसिद्ध्यर्थमन्यदपेक्षत इति युक्तिमत्। हन्त तर्हि सर्वस्य प्रमाणप्रमेयभेदभिन्नस्य जगतः साधक आत्मा कथं स्वाधीनसिद्धिकेन प्रमाणेन सिद्धः स्यात् प्रमाणात् पूर्वमेव सिद्धत्वात्।

पूर्व०—अच्छा तो प्रमाणके अभावसे आत्माकी प्रतीति न होगी।

सिद्धान्ती—तब तो प्रमाणमें भी प्रमाणान्तर कहना चाहिये। नहीं तो नरशृङ्गके तुल्य प्रमाण भी असत् ठहरा, तो वह अपने प्रमेयका साधक न होगा। और प्रमाणमें प्रमाणान्तरका अनुसरण करनेसे अनवस्था दोष आता है, इसलिए प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है, यह कहना तुम्हारा अभिमानमात्र है।

पूर्व०—प्रमाणान्तरकी अपेक्षा न रखता हुआ प्रमाण अपनेको और अपने प्रमेयको भी सिद्ध कर सकता है। जैसे दीपकका प्रकाश अपने और पराये व्यवहारमें प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह स्वयंप्रकाशरूप है, वैसे ही प्रमाण भी प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि यावत् वस्तुओंका साधक जो प्रमाण है वह अपनी सिद्धिके लिए अन्यकी अपेक्षा कैसे रख सकता है? यह तो युक्तिविरुद्ध बात है।

सि०—अच्छा तो प्रमाणप्रमेयभेदभिन्न सम्पूर्ण जगत्का साधक जो आत्मा है वह स्वाधीनसिद्धिवाले प्रमाणसे कैसे सिद्ध हो सकेगा [अर्थात् प्रमाणका स्वरूप और उसकी प्रतीति आत्माके अधीन ठहरी और आत्माकी सिद्धि प्रमाणके अधीन ठहरी, तो अन्योन्याश्रय दोष हुआ, फिर प्रमाणसे आत्मसिद्धि कैसे होगी?] आत्मा तो प्रमाणसे पहले ही सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि आत्मा प्रमाणका कारण है और कारण अवश्य ही कार्यके पूर्वमें रहता है, तो फिर पूर्वसिद्ध आत्माको प्रमाण कैसे सिद्ध करेगा?

अन्यथा असिद्धप्रमातृकं प्रमाणमेवात्मानं न लभेत, कथं वा सर्वस्य प्रमातारमात्मानं विषयीकुर्य्यात् प्रमाणं कर्मकर्तृविरोधप्रसङ्गात् तदन्यस्य च सर्वस्य अनात्मत्वेन अप्रमातृत्वात्। तथा च श्रुतिः—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति। तथा च प्रमातुरात्मनः स्वत एव सिद्धत्वात् प्रमाणाभावात् न असत्त्वप्राप्तिः। किञ्चेदमात्मनोऽसत्त्वमापाद्यमानं प्रमाण-

---

अन्यथा, यदि प्रमाणसे पूर्व आत्मसिद्धि न हो, तो प्रमाताके बिना प्रमाण अपने स्वरूपका ही लाभ न करेगा।

[पूर्व०—प्रमाता आत्मा नहीं है, किन्तु बुद्धि है, क्योंकि 'धीर्ह्रीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुतिसे बुद्धि ही प्रमात्री हो सकती है।

सि०—चैतन्यके साथ तादात्म्यको प्राप्त हुए बिना केवल बुद्धि प्रमात्री हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह जड़ है। और आत्माके प्रमातृत्वमें वृत्तिवाली बुद्धि उपाधि है, इसलिए लोकमें बुद्धि प्रमात्री कही जाती है—वास्तवमें आत्मा प्रमाता है और वही सब प्रमाणोंका कारण है।

पूर्व०—हम प्रमाणसे आत्माकी उत्पत्ति नहीं कहते हैं, किन्तु प्रमाणसे आत्मा जाना जाता है।]

सि०—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सबका प्रमाता जो आत्मा है उसको प्रमाण कैसे विषय कर सकेगा इसमें कर्मकर्तृविरोध आता है * और उससे भिन्न यावत् विश्व जड़ है, वह प्रमाता नहीं हो सकता। यही बात श्रुति भी कहती है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (विज्ञाताको कौन दूसरा किस करणसे जान सकता है, क्योंकि तत्त्वावस्थामें आत्मासे भिन्न सबका अभाव है, इसलिए आत्मासे भिन्न कौन ऐसा है जो आत्माको जान ले) अतः प्रमाता जो आत्मा है उसके स्वतःसिद्ध होनेसे प्रमाणके अभावमें उसकी असत्त्वप्राप्ति नहीं हो सकती

---

* तात्पर्य यह है कि ज्ञान क्रिया है वह कर्त्ता और कर्मकी अपेक्षा रखकर होती है। उन दोनोंमें कर्त्ता तो क्रियाका साधन होनेसे क्रियाके प्रति गौणभावको प्राप्त होता है और कर्म जो है वह स्वरूपसे या धर्मसे क्रियासाध्य होनेके कारण क्रियाके प्रति प्रधानताको प्राप्त होता है। इससे आत्माको ज्ञानके प्रति एक ही समयमें उभयरूपता 'अर्थात् कर्तृता और कर्मता' प्राप्त होती है। बस, यही कर्मकर्तृविरोध कहलाता है। सारांश यह है कि ज्ञानके प्रति आश्रयत्वरूपसे साधन और प्रमेयत्वरूपसे प्रधान होनेके कारण विरुद्धताकी प्रसक्ति हुई, इसलिए प्रमाण आत्माको विषय नहीं कर सकता।

सिद्धमसिद्धस्वभावं स्वतो वा सिद्धम् । आद्ये असत्त्वग्राहकप्रमाणस्य प्रतियोगिविषयत्वनियमेन आत्मनोऽपि प्रमाणसिद्धत्वेन असत्त्वानुपपत्तिः । न द्वितीयः, असिद्धस्य आपादनानुपपत्तेः ।

नहि बुद्धौ अनारूढस्वभावमापादयितुं शक्यम् । तृतीये तु आत्मैव स्वतःसिद्धोऽस्तु असत्त्वस्य च स्वतःसिद्ध्यनुपपत्तेः । अन्यथा आत्मनो नामान्तरकरणप्रसङ्गात् ।

है। और भी कहते हैं, प्रमाणाभावसे प्रसज्यमान आत्माका जो असत्त्व है, वह किसी प्रमाणसे सिद्ध है या असिद्धस्वभाव है अथवा स्वतःसिद्ध है। इनमें से यदि पहला पक्ष है, तो प्रष्टव्य यह है कि असत्त्वका ग्रहण करनेवाला प्रमाण असत्त्व-मात्रका ग्रहण करता है या आत्मप्रतियोगिक असत्त्वका ग्रहण करता है ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि असत्त्व प्रतियोगिनिरूप्य है, इसलिए प्रमाण प्रतियोगीको विषय किये बिना केवल असत्त्वमात्रको विषय नहीं कर सकता। यदि दूसरा पक्ष है, तब तो असत्त्वग्राहक प्रमाणके प्रतियोगिविषयत्व—(अर्थात् प्रतियोगीको विषय करके पश्चात् अभावको विषय करना)—नियमसे आत्मा भी प्रमाणसिद्ध हो गया तो फिर आत्माके असत्त्वकी अनुपपत्ति रही। [तात्पर्य यह है कि असत्त्वका प्रतियोगी हुआ आत्मा और प्रमाणने प्रतियोगीका ग्रहण करके पश्चात् असत्त्वका ग्रहण किया। इस दशामें प्रमाणसे आत्माकी सिद्धि हुई फिर असत्त्व कहां रहा ?] अब रहा पीछे कहे हुए तीन पक्षोंमें से दूसरा पक्ष, वह यह कि आत्माको असिद्धस्वभाव मानना, परन्तु वह भी नहीं बनता, क्योंकि असिद्धका आपादन (प्रसज्जन) अयुक्त है] इसलिए बुद्धिमें अनारूढ (अर्थात् विचारमें न आ सकनेवाला) स्वभावका आपादन (कथन) करना अशक्य है*। रहा तीसरा पक्ष, उसमें आत्मा ही स्वतःसिद्ध रहे, क्या हानि है; क्योंकि सापेक्ष और निरपेक्ष इन दोनोंमें से निरपेक्षको ही स्वतःसिद्ध मानना उचित है और

---

* शङ्का—असत्त्वका प्रतियोगी सत्त्व रहेगा, आत्मा कैसे कहा ?

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि हम पूछते हैं कि प्रतियोगी होता हुआ जो सत्त्व है, वह पदार्थका स्वरूप है या धर्म है ? यदि कहो कि स्वरूप है तो पूछना यह है कि वह आत्मरूप है या पदार्थान्तर है ? इसमें पहले पक्षका तो उत्तर हो चुका कि आत्मा प्रमाणगम्य होनेसे असत्त्व नहीं इत्यादि, दूसरे पक्षमें तुम्हारे इष्टकी हानि है, 'अर्थात् पदार्थान्तरका असत्त्व सिद्ध होगा आत्माका नहीं तो फिर कैसे आत्माका असत्त्व कह सकते हो।

किञ्च, आत्मनोऽसत्त्वं किमात्मना ज्ञायते, अनात्मना वा ? नान्त्यः, अनात्मनो ज्ञातृत्वाभावात् । नाद्यः, व्याघातात् ।

तथाहि किमात्मा स्वसत्ताकाले स्वासत्तां जानाति, स्वासत्ताकाले वा ? आद्ये स्वसत्ताकाले स्वासत्ता कुतः ? तथा च किं जानीयात् विषयस्यैव अभावात् । द्वितीये कथं जानीयात् स्वस्यैव अभावात् । स्वसत्ताकाले आत्मैव कालान्तरभाविनीं स्वासत्तां जानाति इति चेत्, तर्हि सन्नेव आत्माऽनित्यः परं तच्च कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गेन परिहृतम् । किञ्च, आत्मनोऽसत्त्ववादी स्वात्मानं निराकरोति परात्मानं वा ? आद्ये निराकर्त्तुरसत्त्वान्निराकार्य्य एव आत्मा परमार्थः सन् । द्वितीये निरा-

---

असत्त्वकी स्वतःसिद्धि भी अयुक्त है, यदि ऐसा न मानें, तो आत्माका ही नामान्तर करना यह प्रसक्त होगा ।

किञ्च, सिंहावलोकनन्यायसे फिर भी प्रमाणसे असत्त्वकी सिद्धि होती है, इस पक्षमें दोषान्तर दिखाते हैं । क्या आत्माका असत्त्व आत्मासे जाना जाता है या अनात्मा (जड़) से ? इनमें से अन्तिम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्मा ज्ञाता नहीं हो सकता, वह कैसे जानेगा ? रहा पहला पक्ष, उसमें व्याघात दोष आता है ।

पूर्व०—व्याघात दोष कैसे आता है ?

सि०—सुनो, क्या आत्मा स्वसत्ताकालमें अपनी असत्ताको जानता है या स्व-असत्ताकालमें अपनी असत्ताको जानता है ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, भला स्वसत्ताकालमें स्व-असत्ता कैसी ? और क्या जानेगा, वहाँ तो विषयका ही अभाव रहा । यदि दूसरा पक्ष मानो, तो भी कौन जानेगा, वहाँपर जाननेंवालेका ही अभाव रहा ।

पूर्व०—स्वसत्ताकालमें आत्मा ही अपनी कालान्तरभाविनी असत्ताको जानता है ।

सि०—तब तो सत्‌रूप ही आत्मा अनित्य ठहरा, परन्तु आत्माके अनित्य माननेंमें कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष आते हैं । इस बातको पहले कह आये हैं । और भी दोष है, देखो—आत्माका असत्त्व कहनेवाले तुम अपनी आत्माका खण्डन करते हो या दूसरे की आत्माका ? यदि अपनी आत्माका खण्डन करते हो, तब तो खण्डन करनेवाला असत् हुआ और निराकार्य (खण्डनीय)

कर्त्ता परमार्थ एव स्थितः कुतस्तेनाऽऽत्मनोऽसत्त्वम्। तथा च श्रुतिः— 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इति।

किञ्च, प्रमाणं सति विषये प्रवर्त्तते असति वा? असति चेत्, तर्हि शशविषाणमपि साधयेत् असत्त्वाविशेषादसत्साधनसमर्थत्वाच्च प्रमाणानाम्। सति चेत्, न तर्हि प्रमाणाधीना वस्तुसत्ता प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वमेव प्रमेयसत्ताभ्युपगमात्। अन्यथा सति प्रमाणं प्रवर्त्तत इति स्ववचनव्याकोपः।

आत्मा सत् हुआ। यदि दूसरा पक्ष मानो तो खण्डन करनेवाला परमार्थ सत् ठहरा तो एतावता आत्माका असत्त्व कैसे? इसी बातको श्रुति कहती है 'असन्नेव०' (यदि ब्रह्मको असत् जानता है तो स्वयं असत् ही हो जाता है और ब्रह्मको यदि सत् जानता है तो मुनि लोग इसको सत् कहते हैं) [तात्पर्य यह है कि जानना चेतनका धर्म है, क्योंकि घटादि अचेतन पदार्थ प्रमाता नहीं है और विज्ञानघनश्रुतिसे ब्रह्म चेतनरूप कहा गया है, वह विज्ञातासे भिन्न भी नहीं है, क्योंकि अभेदश्रुति उसमें प्रमाण है 'इस प्रकार यदि विज्ञाता ब्रह्मात्माको असत् जाने तो असत् ही होता है आत्माका निराकरण करनेसे इस आधी श्रुतिने स्वात्माका खण्डन करनेवालेका संवाद दिखाया। अब आधी श्रुति, परायी आत्माका यदि कोई खण्डन करे तो उसका अपना आत्मा सत् सिद्ध हुआ इस बातको दिखाती है—'अस्ति ब्रह्मेति' अर्थात् ब्रह्मात्मा है इस प्रकार यदि जानता है तो ऋषि लोग उसको सत् कहते हैं।

सिद्धान्ती—क्या प्रमाण सत् विषयमें प्रवृत्त होता है या असत् विषयमें?

पूर्व०—असत् विषयमें।

सि०—तब तो प्रमाण शशशृङ्गको भी सिद्ध कर देगा, क्योंकि प्रमाण तो असत् वस्तुके साधनमें समर्थ ठहरे, सत् और असत् सब एकसे हैं, उनमें कुछ विशेषता ही नहीं है।

पूर्व०—अच्छा तो सत् विषयमें प्रमाणकी प्रवृत्ति हम मानते हैं।

सि०—यह भी ठीक नहीं है, इस पक्षमें भी वस्तुकी सत्ता प्रमाणाधीन न रही, क्योंकि प्रमाणप्रवृत्तिसे पहले ही प्रमेयसत्ताका होना आवश्यक है, नहीं तो

सत एव वस्तुनो भानं प्रमाणाधीनमिति चेत्, भवतु अभानस्वरूपे अनात्मनि अचेतने तथा। स्वयमेव भानस्वरूपे आत्मनि कथमेवं भविष्यति। तथा च श्रुतिः—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति। किञ्च, आत्मनि किं प्रमाणमित्यभिनिविशमानं प्रति सर्वाणि प्रमाणानि इति एव उत्तरम् अज्ञातस्यैव प्रमाणविषयत्वात् आत्मन एव अज्ञातत्वात् जड़स्य च स्वत एव आवृतस्वभावस्य अज्ञानलक्षणावरणान्तरकल्पनाप्रयोजनशून्यतया अज्ञानाविषयत्वेन प्रमाणाविषयत्वात् प्रमाणाधीनाऽविद्यानिवृत्तिविशिष्टात्मकस्वरूपचैतन्येनैव जड़स्य सर्वस्य प्रतीत्युपपत्तेः।

सत् विषयमें ही प्रमाण प्रवृत्त होता है—इस अपने ही वचनका बाध होगा। [तात्पर्य यह है कि जिसकी अपेक्षासे जो पूर्व रहता है, वह उसका कार्य नहीं होता, क्योंकि नियमसे पश्चाद्भावी (अर्थात् पीछे होनेवाले) का नाम कार्य है जब कि विषय पहले ही से सत् है तो प्रमाण उसका उत्पादक कैसे हो सकता है।

पूर्व०—हम प्रमाणको सत्ताका उत्पादक नहीं कहते, किन्तु सत् वस्तुका भान प्रमाणाधीन है—यह कहते हैं।

सि०—अच्छा तो अभानस्वरूप अनात्मा अचेतनमें यह बात रहे, परन्तु स्वयं भानस्वरूप आत्मामें यह कैसे हो सकेगी। इस बातको श्रुति भी पुष्ट करती है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' (उस प्रसिद्ध आत्माका भान होनेपर ही सब भासमान होता है, जिसके प्रकाशसे यह समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है) और भी युक्ति है—यदि कोई वादी कहे कि आत्मामें क्या प्रमाण है, तो उससे यही उत्तर कहना चाहिये कि आत्मामें सभी प्रमाण हैं, क्योंकि अज्ञात वस्तु ही प्रमाणका विषय है और आत्मा अज्ञात है*। स्वतः आवृतस्वभाव जो जड़ है, उसके अज्ञानरूप आवरणान्तरकी कल्पना करना निष्फल है जब कि कल्पना प्रयोजनशून्य रही तो जड़वस्तु अज्ञानका विषय न होनेसे प्रमाणका भी विषय नहीं

* शङ्का—'अज्ञातो घटः' इस प्रतीतिसे घट भी तो अज्ञात है और प्रमाणका विषय भी है फिर आत्मा ही केवल प्रमाणका विषय कैसे ?

समाधान—जड़ अज्ञात नहीं है, किन्तु आत्मा अज्ञात है 'अर्थात् आत्मा पर प्रेमास्पद होनेसे सुखस्वरूप है और वह सुख नित्य और स्वयं प्रकाश रूप है, क्योंकि परामर्शके बलसे सुषुप्तिमें सम्पूर्ण इन्द्रियों और विषयोंका उपराम होनेपर भी वह भासमान रहता है। इससे जाग्रत् अवस्थामें भी उसकी 'अस्ति भाति' यह प्रतीति प्राप्त हुई तो भी जो यह 'नास्ति न भाति'

तथा च सर्वप्रमाणसिद्धस्य आत्मनः प्रमाणाभावात् असत्त्वमिति साहसमात्रम्। कथं तर्हि औपनिषदत्वम् आत्मनः सर्वप्रमाणविषयस्य

इसलिए आत्मा ही सिर्फ प्रमाणका विषय सिद्ध हुआ।

[शङ्का—यदि ऐसा है, तो 'अज्ञातो घटः' यह प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान—साक्षीमें अज्ञानके साथ घटका अध्यास होनेसे होती है।

शङ्का—जब कि जड़का जड़रूप होनेसे स्वतः भान न हो सका और प्रमाणका विषय न होनेसे प्रमाणसे भी उसका भान न हो सका, तो फिर अनात्माका (जड़ वस्तुका) भान कैसे होगा ?

समाधान—यद्यपि जड़का जड़रूप होनेसे स्वतःस्फुरण नहीं हो सकता और अज्ञानका अविषय होनेसे प्रमाणसे भी प्रकाश नहीं हो सकता, तथापि आत्म-स्वरूप चैतन्यसे उसका प्रकाश होता है।

शङ्का—तब तो आत्मस्वरूप चैतन्यके स्वयंप्रकाशरूप होनेसे उसका संसर्ग पाकर जड़का भी सर्वदा भान होना चाहिये।

समाधान—यह नहीं हो सकता, क्योंकि साक्षीरूप आत्मा अविद्यासे आवृत्त रहता है, इस कारण प्रपञ्चका सर्वदा भान होना सम्भव नहीं है।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो प्रपञ्चका कभी भी ज्ञान न होगा।]

समाधान—प्रमाण के अधीन जो अविद्याकी निवृत्ति तद्विशिष्ट आत्म-स्वरूप चैतन्यसे ही समस्त जड़की प्रतीति हो सकती है,* इसलिए सर्वप्रमाण-सिद्ध आत्माका प्रमाणके अभावसे असत्त्व कहना केवल साहसमात्र है।

इस प्रकार अन्यथाव्यवहार होता है, वह अधिष्ठानके अज्ञानसे जायमान है, क्योंकि यह बात शुक्तिके अज्ञानसे जायमान रजतव्यवहारमें देखी गई है। और अधिष्ठान ठहरा आत्मा, उसमें विपरीतव्यवहारयोग्यत्वरूप जो आवरण है, वह अज्ञानजन्य है और आत्मामें कल्पित है इसलिए आत्मा अज्ञानविषय होनेसे अज्ञात हुआ परन्तु जड़ पदार्थ ऐसा नहीं है।

* तात्पर्य यह है कि घटावच्छिन्न जो चिदात्मा है वह घट और इन्द्रियके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुई जो घटाकार अन्तःकरणवृत्ति उससे अविद्याके नष्ट हो जानेपर घटावच्छिन्न वृत्तिमें प्रति-बिम्बित हो जाता है, तब घटको प्रकाशित करता है। इस तरहसे घटकी प्रतीति होती है, वैसे ही पटादिकी प्रतीति भी जाननी चाहिये।

शङ्का—तब तो घट भी प्रमाणविषय हो जायगा।

समाधान—यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि प्रमाणसे निवर्त्त्य अज्ञानके विषयका नाम प्रमाणविषय है। इस प्रकार प्रमाणका विषय सिर्फ घटावच्छिन्न चिदात्मा ही है, इसलिए

उपनिषन्मात्रगम्यत्वाभावादिति चेत्, न; परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यग्रूपेण मानान्तराविषयत्वादौपनिषदत्वमिति वदामः। ननु स्वयम्प्रकाशस्य अज्ञानविषयत्वानुपपत्तिः इत्युक्तम्।

सत्यं वस्तुतस्तथैव। तथापि यथा मध्यन्दिनवर्तिनि अपि सवितरि स्वयम्प्रकाशे दिवान्धाः पेचकादयः तमसा आवृतोऽयं सवितेति कल्पयन्ति तथा अत्यन्तमूढबुद्धयोऽज्ञानेन आवृतोऽयमात्मेति कल्पयन्ति। अत

पूर्व०—जब कि आत्मा सर्वप्रमाणसे सिद्ध है, तो उसको औपनिषद (अर्थात् उपनिषद्मात्रसे गम्य) कैसे कहा, क्योंकि सर्वप्रमाणविषयको उपनिषद्मात्रगम्य कहना ठीक नहीं है।

सि०—तुमने औपनिषदत्वशब्दका अर्थ नहीं समझा, देखो परिपूर्ण सच्चिदानन्दप्रत्यक्रूपसे आत्मा प्रमाणान्तरका विषय नहीं है, किन्तु उपनिषद्वाक्योंका ही विषय है, इसलिए उसको औपनिषद कहते हैं।

पूर्व०—आत्मा यदि स्वयंप्रकाश है तो उसमें अज्ञानविषयत्व कैसे है? [वादीका तात्पर्य यह है कि औपनिषदत्वके माने हैं उपनिषद्जन्य जो ज्ञान उस ज्ञानसे निवर्त्य—नाश्य जो अज्ञान उसका विषय होना, परन्तु स्वयम्प्रकाशचिदात्मा अज्ञानका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि भासमानत्व और अभासमानत्व ये दोनों एक कालमें एकत्र नहीं रह सकते, तो फिर आत्मा औपनिषदज्ञाननिवर्त्य अज्ञानका विषय कैसे है?]

सि०—ठीक है, स्वयम्प्रकाशरूप आत्मा अज्ञानका विषय नहीं है, वास्तवमें यही बात है, तथापि जिस तरह स्वयम्प्रकाशरूप मध्याह्नके सूर्यमें दिवान्ध (उलूकादि प्राणी) कल्पना करते हैं कि 'यह सूर्य अन्धकारसे ढका हुआ है' इसी तरह अत्यन्त मूढबुद्धिवाले पुरुष भी अज्ञानसे ढका हुआ आत्मा है, ऐसी कल्पना करते हैं। अन्यत्र भी कहा है—'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कम्' अर्थात् बादलसे जिसकी दृष्टि रुकी हुई है, वह सूर्यको ढका हुआ मानता है।

चिदात्मा ही सर्वप्रमाणका विषय है घट तो अनावृत जो स्वावच्छिन्न चिदात्मा है उससे युक्त होनेसे भासमान होता है। इसलिए वह प्रमाणका विषय नहीं है।

एवम्भूतस्य आत्माज्ञानस्य कल्पितस्य पूर्वमेव आत्ममाहात्म्यादेव वस्तुतो निवृत्तस्य असतो निवृत्तये सर्वे वेदान्ताः प्रवृत्ताः स्वयम्प्रकाशस्वरूपे आत्मनि अज्ञाननिवृत्तिव्यतिरेकेण फलान्तराऽनिरूपणात् तदाकारवृत्त्युत्पादनेनैव वेदान्तानां तद्विषयत्वोपपत्तेः। न च आत्मनः स्वयम्प्रकाशत्वे विप्रतिपत्तिः।

तथा हि आत्मा इतरानपेक्षप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारित्वात्, संविद्वदालोकवत् वा।

तस्मात् स्वयम्प्रकाश आत्मेत्यभिप्रेत्य उक्तं ज्योतिरिति। सैन्धवघनवत् विज्ञानघनैकस्वभावतया स्वयंज्योतिःस्वरूपमित्यर्थः। तथा

* एवम्भूत—कल्पित जो आत्माका अज्ञान है। जो कि आत्माके माहात्म्यसे पहलेसे ही वास्तवमें निवृत्त और असत् है अर्थात शुक्तिके देख लेनेपर जैसे कि वहांपर फिर रजत नहीं रहता, वैसे ही आत्मस्वरूपके पर्यालोचनसे अज्ञान भी वहां असत् है उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिए सब वेदान्तवाक्य प्रवृत्त हुए हैं, क्योंकि स्वयंप्रकाशरूप आत्मामें अज्ञाननिवृत्तिके सिवाय और किसी फलका निरूपण नहीं किया जा सकता है और आत्माकार वृत्तिके उत्पन्न करनेसे ही वेदान्तोंका आत्मविषयत्व युक्तिसिद्ध है। आत्माके स्वयम्प्रकाश होनेमें कोई विरोध भी नहीं आता।

उसीको दिखाते हैं आत्मा इतरकी अपेक्षा न रखनेवाला प्रकाशरूप है, क्योंकि वह स्वसत्ताकालमें प्रकाशका अव्यभिचारी है जैसे कि संवित् अथवा आलोक।

[यहांपर ज्ञानको स्वयंप्रकाश माननेवाले वेदान्तियोंके लिए तो संविद् यह दृष्टान्त है और नैयायिकोंके लिए आलोक यह दृष्टान्त है।]

इसलिए आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसी आशयसे मूलकारिकामें 'ज्योतिः' पद दिया है। इसका अर्थ यह है कि सैन्धवघनके समान केवल विज्ञानघनस्वभाव होनेसे आत्मा स्वयंज्योतिःस्वरूप है। उसमें श्रुति-

* शङ्का—आत्मामें वेदान्तोंकी प्रवृत्ति किसलिए है, आत्माके भानके लिए है या अज्ञानकी निवृत्तिके लिए है? यदि पहला पक्ष मानो, तो आत्मा मिथ्या हो जायगा और यदि दूसरा पक्ष मानो, तो अज्ञान अनादि है अनादिकी निवृत्ति नहीं होगी।

समाधान—कल्पित अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वेदान्तवाक्य प्रवृत्त हुए हैं, एतावता कुछ दोष नहीं आता।

च श्रुतिः—'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' इति । कदाचित् 'आत्मानमहं जानामि' इति अनुभवः कदाचित् 'आत्मानमहं न जानामि' इति अनुभवः तथा च एतदनुभवद्वयोपस्थापितज्ञातत्वाज्ञातत्वाभ्यां स्वयंज्योतिष्ट्वमात्मनो विरुद्ध्यते । तथा हि यदि 'आत्मानमहं जानामि' इति अनुभवानुरोधेन ज्ञातत्वं ज्ञानकर्मत्वमात्मनः स्वीक्रियते, तदा अनात्मवत् स्वयम्प्रकाशत्वानुपपत्तिः ।

तदेव हि स्वयम्प्रकाशं नाम यत् केनाऽपि रूपेण कस्यापि ज्ञानस्य कदाचित् अपि कर्मतां न भजते । अन्यथा पारिभाषिकमेव स्वयम्प्रकाशत्वं स्यात् । यदि च 'मामहं न जानामि' इति अनुभवानुरोधेन अज्ञातत्वमेव स्वीक्रियते, तथापि स्वयंज्योतिष्ट्वक्षतिः । नहि एकस्मिन् एव वस्तुनि युगपत् 'भाति न भाति च' इति अनुभवितुं शक्यम् , विरोधात् । नहि यदा

प्रमाण है—'अत्रायं पुरुषः' (स्वप्नावस्थामें पुरुष स्वयंज्योतिःस्वरूप है) अर्थात् स्वप्नमें आत्मा प्रकाशमान है यह तो सिद्ध ही है परन्तु बाह्य इन्द्रियोंसे उसका प्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मामें उनकी प्रवृत्ति ही नहीं है और उनका उपराम भी हो जाता है । रहा मन वह भी रथादिरूपसे परिणत हो जाता है, इसलिए परिशेषसे आत्मा ही स्वयंज्योतिःस्वरूप है ।

पूर्व०—यदि आत्मा स्वयंज्योतिःस्वरूप है, तो कदाचित् 'मैं आत्मा को जानता हूँ' यह अनुभव होता है और कभी 'मैं आत्माको नहीं जानता' यह अनुभव होता है । इन दोनों अनुभवोंसे उपस्थापित जो ज्ञातत्व और अज्ञातत्व हैं, उनसे आत्माकी स्वयंज्योतिःस्वरूपतामें विरोध आता है; क्योंकि 'आत्माको मैं जानता हूँ' इस अनुभवके अनुरोधसे आत्माको यदि ज्ञानका कर्म मानोगे, तब तो वह अनात्मा (जड़) की तरह स्वयंप्रकाश नहीं रहेगा, क्योंकि स्वयंप्रकाशके माने हैं, जो किसी तरहसे किसी ज्ञानका कभी भी कर्म न बने, वह स्वयंप्रकाश है, नहीं तो पारिभाषिक (संकेतसिद्ध) ही स्वयंप्रकाश रहेगा । और 'मैं आत्माको नहीं जानता' इस अनुभव के अनुरोधसे यदि आत्माको अज्ञात मानो, तो भी स्वयंज्योतिःस्वरूपताकी हानि है, क्योंकि एक वस्तुमें एक ही कालमें 'भाति न भाति' अर्थात् भासमान होता है और नहीं होता है, इस तरहका अनुभव विरुद्ध होनेके कारण अशक्य है ।

'भाति' तदानीमेव 'न भाति' इति अनुभवः, यदा 'न भाति' तदानीं च 'भाति' इति। तत् कथं स्वयंज्योतिष्ट्वम् आत्मन उपपद्यत इति ? नैष दोषः; ज्ञाताज्ञातविलक्षणस्यैव आत्मत्वात्। तथा च श्रुतिः—'अन्यदेव तद्विदिताद-थोऽविदितादधि' इति। 'आत्मानमहं जानामि' इति अनुभवस्य का गतिरिति चेत्, विशिष्टविषयत्वमेव। नहि एकस्मिन् अनुभवे 'निर्विकल्प-कमज्ञानानन्दव्यावृत्तं वस्तुस्वरूपमात्रं भाति' इति अनुभवः, येन आत्मनो ज्ञानकर्मत्वं भवेत् अपि तु उपाधिविशिष्टमेव। तस्य च ज्ञानकर्मत्वेऽपि अविरोधः। नहि तस्य स्वयम्प्रकाशत्वमस्ति। शुद्धस्यैव आत्मनः

और जिस समय भासता है उसी समय नहीं भासता है, यह अनुभव तथा जिस समय नहीं भासता है उस समय भासता है, यह अनुभव कैसे हो सकता है और इस दशामें आत्माकी स्वयंज्योतिःस्वरूपता भी कैसे हो सकती है?

सिद्धान्ती—आत्माको स्वयं ज्योतिःस्वरूप माननेमें पूर्वोक्त दोष कुछ नहीं आता, क्योंकि ज्ञात और अज्ञातसे विलक्षण ही आत्मवस्तु है, इसी बातको श्रुति पुष्ट करती है—'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि' (वह चैतन्य वस्तु विदितसे भी भिन्न है और अविदितसे भी भिन्न है)।

पूर्व०—'आत्माको मैं जानता हूँ' इस अनुभवकी क्या गति होगी?

सि०—यह अनुभव विशिष्ट आत्माको विषय करता है, [शुद्ध आत्माको विषय नहीं करता]।

पूर्व०—यह अनुभव किस विशिष्ट आत्माको विषय करता है, अज्ञानसे विशिष्टको या अहंकारसे विशिष्टको ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'आत्मानम् अहं जानामि' इस अनुभवमें अज्ञानका स्फुरण नहीं होता और दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुभवमें अहंकार कर्त्तारूपसे पृथक् प्रतीत होता है, इसलिए 'आत्मानं जानामि' यह अनुभव विशिष्टविषयक नहीं हो सकता।

सि०—इस पूर्वोक्त अनुभवमें निर्विकल्प और अज्ञान तथा अनानन्दसे भिन्न वस्तुका स्वरूपमात्र भासता है, यह प्रतीति तो होती नहीं, जिससे कि निर्विकल्प आत्मा ज्ञानका कर्म हो सके, किन्तु उपाधिविशिष्ट भासता है।

[सारांश यह है कि 'अहम् आत्मानं जानामि' यह निर्विकल्प प्रत्यय तो है नहीं, क्योंकि उसका आकार 'इदं किञ्चित्' इस तरहका है और यहांपर ऐसा

स्वयम्प्रकाशत्वाङ्गीकारात् 'माम् अहं न जानामि इति' अनुभव आत्मनः स्वयम्प्रकाशत्वसाधक एव । तथाहि अयं हि अनुभव आत्मविषयमज्ञानं विषयीकरोति ।

तथा च एतस्मिन् अनुभवे अज्ञानवदात्माऽपि भातीति वाच्यम्, अन्यथा 'न जामामि' इत्येव तदाकारः स्यात्, अतः 'आत्मानमहं जानामि' इति स्वयम्प्रकाशतया भासमानम् आत्मानमुल्लिख्य 'न' इति अज्ञानलक्षणम् आवरणं तत्र विषयीकरोति इति युगपद्भासनत्वाभासमानत्वे स्वयम्प्रकाशस्य अविरुद्धे इति 'मामहं न जानामि' इति अनुभवबलादेव स्वयम्प्रकाशत्वमात्मनः सिद्धम् ।

ननु 'घटं न जानामि' इति अनात्मनि अपि ईदृशोऽनुभवोऽस्ति इति

है नहीं,] उस उपाधिविशिष्टके ज्ञानकर्म होनेपर भी कुछ विरोध नहीं आता। वह स्वयंप्रकाश नहीं माना गया है, किन्तु शुद्ध आत्मा ही स्वयंप्रकाश माना गया है। तात्पर्य यह है कि विशिष्टको स्वयंप्रकाश माननेपर विशेषण भी स्वयंप्रकाश सिद्ध हो जाता है, क्योंकि विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषणवृत्ति होता है, यह नियम है, इसलिए जो विशिष्ट आत्मा ज्ञानका कर्म है, वह स्वयंप्रकाश नहीं है ।] और 'मैं अपनेको नहीं जानता' यह अनुभव तो आत्माके स्वयंप्रकाशत्वका साधक ही है बाधक नहीं है । उसीको दिखाते हैं—'अहं आत्मानं न जानामि' यह अनुभव आत्मविषयक अज्ञानको विषय करता है ।

इस अनुभवमें जिस तरह अज्ञान प्रतीत होता है उसी तरह आत्मा भी प्रतीत होता है, इसलिए यह अनुभव आत्माके स्वयंप्रकाशत्वका साधक ही है, नहीं तो इस अनुभवका 'न जानामि' यही आकार होता। इस रीतिसे 'मैं आत्माको नहीं जानता' यह अनुभव स्वप्रकाशतासे भासमान आत्माको विषय करके 'न' इस प्रकार अज्ञानरूप आवरणको वहांपर विषय करता है, अतः एककालमें भासमान होना और न होना ये दोनों स्वयंप्रकाशरूप आत्माके विरुद्ध नहीं हैं (अर्थात् भासमानत्व और अभासमानत्व ये दोनों धर्म परप्रकाश जो घटादि हैं, उन्हींमें विरुद्ध हैं आत्मामें नहीं), इसलिए 'अहं आत्मानं न जानामि' इस अनुभवके बलसे ही आत्मा स्वयंप्रकाशरूप सिद्ध हुआ ।

पूर्वपक्षी—मैं घटको नहीं जानता, इस प्रकारका अनुभव तो अनात्मा जो

तस्याऽपि स्वम्प्रकाशत्वप्रसङ्ग इति चेत्, अथ कोऽयं घटो नाम यस्य स्वयम्प्रकाशत्वमापाद्यते। घटत्वादयो धर्मा यत्र प्रतीयन्ते अयमेव इति चेत्, किमस्य स्वरूपं तत् सम्यगनुभूय इतरविविक्ततया प्रदर्श्यताम् कपालाद्यारब्धावयविविशेष इति चेत्, नः अवयवावयवित्वादयो हि घट-संबद्धा अन्ये न तु एते एव घटस्वरूपाः।

एतदन्यत् स्वरूपं वाच्यम्, एतदन्यत् स्वरूपं विशिष्य वक्तुं न शक्नोमि इति चेत्, कथमशक्तिः, अननुभूयमानत्वात् वा निर्विशेषत्वात् वा? न आद्यः; घटस्वरूपस्य सर्वजनीनानुभवसिद्धत्वात्। द्वितीयेऽपि वक्तव्यं निर्विशेषम् अनुभूयमानं यत् स्वरूपं तत् किं स्वतोऽनुभूयते स्वभिन्नेन मानान्तरेण वा? अन्त्ये, निर्विशेषत्वव्याघातः; नहि निर्विशेषं वस्तु मानान्तर-

---

घटादि हैं, उनमें भी हो सकता है, तब घटादि भी स्वयम्प्रकाश सिद्ध हो जायँगे।

सिद्धान्ती—वह घट क्या चीज है, जिसकी तुम स्वयम्प्रकाशता दिखा रहे हो।

पूर्व०—घटत्वादि धर्म जिसमें प्रतीत होते हैं, वही घट है।

सि०—अच्छा इसका क्या स्वरूप है, अच्छी तरह अनुभव करके इतर-भिन्नरूपसे दिखाओ।

पूर्व०—कपालादिसे उत्पन्न हुआ अवयवी विशेष ही घटका स्वरूप है।

सि०—नहीं, अवयव और अवयवी ये तो घटसे सम्बद्ध हैं, अतएव घटसे भिन्न हैं; इसलिए ये घटके स्वरूप नहीं हो सकते (अर्थात् हमने तुमसे घटका स्वरूप पूछा है। उसके उत्तरमें तुमने केवल घट और कपालके सम्बन्धका वर्णन कर दिया। हमारे प्रश्नका उत्तर कहाँ हुआ? इसलिए सम्बन्धसे भिन्न घटका स्वरूप वर्णन करना चाहिये)।

पूर्व०—इससे भिन्न स्वरूपको विशेषरूपसे कहनेमें हम असमर्थ हैं

सि०—असमर्थ क्यों हो? वह अनुभवमें नहीं आता, इसलिए असमर्थ हो या निर्विशेष होनेसे उसका वर्णन नहीं कर सकते? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि घटका स्वरूप सब जनोंके अनुभवसे सिद्ध है। दूसरे पक्षमें भी यह कहना चाहिये कि निर्विशेष अनुभूयमान जो घटस्वरूप है, वह स्वप्रकाशतासे प्रतीत होता है या अपनेसे भिन्न जो प्रमाणान्तर है उससे प्रतीत होता है। यदि अन्तिम पक्ष कहो तो निर्विशेषताका व्याघात हो जायगा,

विषय इति सम्भवति, चक्षुरादेः सार्वलौकिकस्य प्रमाणस्य सविशेषवस्तुविषयत्वनियमात्। तस्मात् निर्विशेषं सकलवाङ्मनसाद्यविषयं स्वभासमानं वस्तु घटस्वरूपमिति अवशिष्यते।

तत् किमात्मनो भिद्यते न वा इति विचारणीयम् भिद्यते चेत्, न; भेदकधर्माभावात् निर्विशेषत्वात् धर्मिप्रतियोगिनोरुभयोरपि स्वयम्प्रकाशत्वेन तद्विशेषितस्य भेदस्य प्रमाणेन ग्रहीतुमशक्यत्वात् च तस्मात् स्वयम्प्रकाशात्मस्वरूपमेव घट इति स्थितम्।

क्योंकि निर्विशेष पदार्थ प्रमाणान्तरका विषय नहीं हो सकता। चक्षु आदि जो समस्त लौकिक प्रमाण हैं, वे सब नियमतः सविशेषवस्तुविषयक ही हैं।

[अर्थात् चक्षु आदि जो इन्द्रियाँ हैं उनकी प्रवृत्ति गुणवालेमें ही होती है, ऐसे ही अनुमान प्रमाण भी सामान्य आदि पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। इस तरह सभी प्रमाण सविशेषमें ही नियत हैं, परन्तु घटका निर्विशेषस्वरूप प्रतीत होता है] इसलिए परिशेषसे निर्विशेष और सम्पूर्ण वाणी, मन आदिका अविषय तथा भासमान जो वस्तु वह घटका स्वरूप है। अब विचारना यह है कि वह वस्तु आत्मासे भिन्न है या अभिन्न है?

पूर्व०—भिन्न है।

सि०—नहीं भेदक धर्म तो है ही नहीं, फिर भिन्न कैसे हो सकता है? और वह वस्तु निर्विशेष भी है*, क्योंकि धर्मी घट और प्रतियोगी आत्मा ये दोनों स्वयम्प्रकाश हैं। इस कारण इनसे विशेषित हुआ जो भेद है उसका प्रमाणसे ग्रहण करना सम्भव नहीं है [अर्थात् धर्मी और प्रतियोगीको स्वयं-

---

* तात्पर्य यह है कि यदि घटत्वादि धर्म घट के भेदक माने जायँ, तो प्रश्न यह होता है कि वे घटत्वादि भेदक धर्म व्यक्तिमात्र में रहते हैं या केवल घटव्यक्तियोंमें रहते हैं। इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि सभी व्यक्तियाँ घटस्वरूप हो जायँगी। यदि दूसरा पक्ष मानो, तो बतलाओ घटव्यक्ति कौन है?

वादी—घटत्वादिधर्मवाली घटव्यक्ति है।

सि०—नहीं इससे तो आत्माश्रय दोष आ जायगा।

वादी—अच्छा तो धर्मान्तरवाली घटव्यक्ति है।

सि०—वहां भी यही प्रश्न उपस्थित होता है, इसलिए निर्विशेष ही घट है। उसमें भेदक धर्म कोई भी नहीं है। इस तरहसे निर्विशेष भासमान वस्तु स्वप्रकाश सिद्ध होता है।

एवं पदार्थान्तरमपि आत्मस्वरूपमेव इति अनात्मा आत्मभिन्नो नास्ति एव, कस्य स्वयम्प्रकाशत्वमापाद्यते तुल्यन्यायादिति; अतः स्वयंज्योतिःस्वभाव आनन्दघनः असङ्गोदासीन एव आत्मा अनाद्यनिर्वचनीयाविद्यासम्बन्धात् द्वैताकारेण भाति रज्जुरिव सर्पदण्डाद्यात्मना, परमार्थतस्तु न द्वैतं न अद्वैतमात्मैव केवलो विज्ञानघन इति सिद्धम् ।

आत्माऽयं सर्वसंबद्धो भानुभासक उच्यते ।
नित्योऽयमविनाशित्वात् उपादेयः कथं भवेत् ॥२५॥

प्रकाश मान लेनेपर फिर भेद इनका प्रकाशक नहीं हो सकता] इसलिए स्वयम्प्रकाश आत्मस्वरूप ही घट है, यह निश्चय हुआ* ।

इसी तरह और पदार्थ भी आत्मस्वरूप ही हैं। आत्मासे भिन्न जड़ वस्तु कुछ नहीं है फिर किसका स्वयंप्रकाशत्व, समान न्यायसे सिद्ध करते हो अर्थात् पूर्वोक्त न्यायसे † जिस अनात्म वस्तुमें तुम स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध करोगे, वही वस्तु आत्मासे भिन्न नहीं ठहरेगी । इसलिए स्वयंज्योतिःस्वभाव आनन्दघन असङ्ग उदासीन जो आत्मा है, वही अनादि अनिर्वचनीय अविद्याके सम्बन्धसे द्वैताकार भासने लगता है जैसे कि रज्जु सर्पाकार या दण्डाकारसे प्रतीत होने लगती है ‡ परमार्थमें न द्वैत है, न अद्वैत ही है, किन्तु आत्मा ही केवल विज्ञानघन है, यह बात सिद्ध हुई ।

यह आत्मा सर्वव्यापक है, सूर्यादिका भी प्रकाशक है और अविनाशी होनेसे नित्य भी है, तो फिर उपादेय कैसे हो सकता है ? ॥२५॥

* यहांपर यह शङ्का होती है कि जब घट और आत्माका अभेद रहा, तो इन दोनोंमें से कौन शेष माना जाय ? इसमें कोई नियामक तो है ही नहीं ।

सि०—आत्मा ही शेष रहता है, क्योंकि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इस श्रुतिमें प्रमाणसिद्ध और प्रथमोद्दिष्ट समस्त पदका अनुवाद करनेसे आत्मामें विधेयत्व सिद्ध होता है, इसलिए आत्मा शेष रहता है, घट शेष नहीं रहता ।

† प्रश्न—स्तम्भादि पदार्थ तो अनात्मरूपसे सब शास्त्रोंमें सिद्ध हैं, वे आत्मस्वरूप कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—पूर्वोक्त न्यायको यहाँपर भी समझो अर्थात् स्तम्भत्वादिका आश्रय स्तम्भादि है या अवयवसे आरब्ध हुआ विशेष अवयवी स्तम्भादि है, इस तरहकी युक्ति सबमें घट जायगी ।

‡ यदि घटादि समस्त विश्व आत्मा ही है, उससे भिन्न कोई नहीं है, तो विश्व आत्माकारसे

ननु ऐहिकामुष्मिकसकलसांसारिकसुखतत्साधनकलापात् विमुखस्य अनादिभवसञ्चितपुण्यनिचयक्षपितकल्मषस्य अशेषविषयदोषदर्शनासादितोद्वेगस्य परमपुरुषार्थकामिनो मुमुक्षोः कथमयमुपादेयः स्यात्। तत्र यद्यपि अयमात्मा नित्यः, विनाशसामग्रीरहितत्वात् आत्मविनाशस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् च स्वसत्ताकाले ग्राह्याभावात् ग्राह्यकाले ग्राहकाभावात्। न च परिच्छिन्नत्वात् अस्य अनित्यत्वमनुमेयम्, आत्मत्वात् आत्मा हि अपरिच्छिन्नः।

यत आहुः—

'यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चाऽत्ति विषयानिह।
यच्चाऽस्य सन्ततो भावस्तस्मात् आत्मेति कथ्यते॥'

पूर्व०—*इस लोकके और परलोकके सम्पूर्ण संसारसम्बन्धी सुख और उसके साधन-समुदायसे जो विरक्त है, और अनादि जन्मोंसे संचित हुए पुण्य-समूहोंसे जिसके पाप नष्ट हो गये हैं तथा समस्त विषयोंमें दोषदृष्टि होनेसे उद्वेगको प्राप्त हुआ है, अत एव परम पुरुषार्थको चाहनेवाला जो मुमुक्षु है, उसके लिए यह आत्मा उपादेय अर्थात् पुरुषार्थ कैसे हो सकता है। यद्यपि विनाशसामग्रीके न होनेसे यह आत्मा नित्य है और आत्मविनाशका ग्रहण भी अशक्य है, क्योंकि स्वसत्ताकालमें ग्राह्यका अभाव है और ग्राह्यकालमें ग्राहकका अभाव है, तथापि उपादेय नहीं हो सकता। कदाचित् यह शङ्का करो कि परिच्छिन्न होनेसे इसकी अनित्यताका अनुमान होने लगेगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा अपरिच्छिन्न है। इसपर व्यास भगवान्‌की सम्मति दिखाते हैं—'यच्चाप्नोति यदादत्ते०' (जिस कारण यह आत्मा समस्त अनात्म वस्तुओंको व्याप्त करता है और जिस कारण सुषुप्ति आदिमें अज्ञानके कार्य अनात्म वस्तुओंका अज्ञानवश

प्रतीत होना चाहिये अन्य आकारसे प्रतीत नहीं होना चाहिये। इस शङ्कापर मूलमें 'स्वयंज्योतिः' कहा है अर्थात् अनादि अविद्यासम्बन्धसे द्वैत-प्रतीति है, अन्यथा नहीं।

* अवतरणिका—आत्मामें प्रमाण होनेपर भी दृश्य होनेसे जड़त्व दोष नहीं आता और स्वप्रकाश होनेसे प्रमाणके अभावमें नरशृङ्गके तुल्य असत्त्व भी नहीं आ सकता। यह बात मूलकारिकाके 'ज्योतिः' पदसे सिद्ध हुई। अब आनन्द विशेषणसे आत्मामें सूचित हुआ जो पुरुषार्थत्व है, उसका निरूपण करनेके लिए सिद्धान्तीके मतसे सिद्ध जो आत्माका स्वरूप है उसके अनुवादसे वादी पुरुषार्थत्वका खण्डन करता है।

व्यापकस्य अपि गगनादेरनित्यत्वं दृष्टमिति चेत्? न, व्यापकत्वापरिज्ञानात्; सर्वसम्बद्धत्वं हि व्यापकत्वम्—सर्वस्मिन् सर्वात्मना सम्बद्धत्वम्—अननुगतानामधिष्ठानमिति यावत्, नहि अन्येनाऽन्यत् सर्वात्मना व्याप्यते, व्याप्यस्वरूपासत्त्वप्रसङ्गात्, व्यापकस्वरूपविनिर्मुक्तस्वस्वरूपाभावात्, अन्यथा सर्वात्मना व्याप्त्यसम्भवात्। न च कालदेशवस्त्वपरिच्छिन्नेऽपि आत्मनि प्रमाणान्तरापेक्षा, भानुवत् स्वयम्प्रतिभातत्वात् सर्वजगदवभासकत्वेन श्रुतौ प्रसिद्धत्वात्।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'

इति श्रुतेः। तथापि सुखदुःखाभावेतरत्वात् अनुपादेयत्वमेव।

ही अपनेमें संहार कर लेता है और जिस कारण विषयोंको प्रकाशित करता है और जिस कारण इसकी निरन्तर सत्ता अपनेमें बनी हुई है अन्य अनात्माके अभावसे स्वरूपमें स्थित है। इससे यह आत्मा कहलाता है)।

कदाचित् यह कहो कि व्यापक जो आकाशादि हैं उनकी भी अनित्यता देखनेमें आती है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुमको व्यापकत्वका परिज्ञान नहीं है। व्यापक उसे कहते हैं—जो सबमें सर्वात्मभावसे सम्बद्ध हो अर्थात् अननुगतका (घटादि एकदेशियोंका) अधिष्ठान * हो। अन्य वस्तुसे अन्य वस्तु सर्वरूपसे व्याप्त नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा माननेसे व्याप्यका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा और व्यापकस्वरूपसे भिन्न अपना स्वरूप कुछ है ही नहीं, यदि कुछ स्वरूप मानोगे तो सर्वरूपसे व्याप्ति नहीं होगी, और काल, देश और वस्तुसे अपरिच्छिन्न आत्मामें प्रमाणान्तरकी अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि सूर्यके समान स्वयं भासमान होनेसे यह आत्मा सम्पूर्ण जगत्के अवभासकरूपसे श्रुतिमें प्रसिद्ध है 'तमेव भान्तमनु०' (उस प्रसिद्ध आत्माके भासमान होनेसे ही यह सम्पूर्ण जगत् भासमान होता है, और उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है। [यद्यपि इस श्रुतिसे नित्य आत्मा

---

* अधिष्ठानका अर्थ सत्ताप्रद है, अन्य जो घटादि हैं, वे अन्य घटादिसे सर्वरूपसे व्याप्त नहीं हो सकते। नहीं तो व्याप्यका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा, क्योंकि व्यापकस्वरूपसे भिन्न स्वरूप कुछ रहा ही नहीं। अन्यथा सर्वरूपसे व्याप्तिका सम्भव न होगा।

ननु किमिदम् अनुपादेयत्वम्? आदानक्रियाऽविषयत्वं वा? इच्छाविषयत्वविरहो वा? स्वकृतिसाध्यत्वविरहो वा? एतत् विशेषितसुखदुःखाभावेतरत्वं वा? विशेष्यमेव वा? अन्यद्वा? न आद्यः, इष्टापत्तेः, सुखदुःखाभावयोः अनुपादेयत्वापत्तेश्च, नहि सुखं वा दुःखाभावो वा आदानक्रियया विषयीक्रियते, न द्वितीयः। इच्छातद्विषयत्वयोरपि उपादेयत्वापत्तेः। ताभ्याम् उपलक्षितं विषयस्वरूपमिति चेत्, न; दुःखस्य अपि

उपादेय सिद्ध है] तथापि सुख और दुःखाभावसे भिन्न है, इसलिए उपादेय नहीं है।

सिद्धान्ती—यह अनुपादेयत्व अर्थात् अग्राह्यत्व क्या है? आदानक्रिया (ग्रहणक्रिया) का अविषय अनुपादेय है या इच्छाविषयके अभावका नाम अनुपादेय है अथवा अपने प्रयत्नसे असाध्यका नाम अनुपादेय है या अपने प्रयत्नसे असाध्य न होकर सुख और दुःखाभावसे भिन्नका नाम अनुपादेय है अथवा विशेष्य (अर्थात् सुख और दुःखाभावसे भिन्न) का नाम अनुपादेय है या कुछ और है? इस तरह छः विकल्प हैं। इनमें से पहला तो ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें इष्टकी ही प्राप्ति है [अर्थात् ग्रहण क्रियाका विषय न होना आत्मामें वादी और सिद्धान्ती दोनों मानते हैं, क्योंकि स्पर्शवाला अथवा क्रियावाला पदार्थ ही हस्तसे ग्राह्य होता है। परन्तु आत्मा अस्पृश्य और अक्रिय है, इसलिए इष्टापत्ति मान सकते हैं] और सुखदुःखाभावमें भी अनुपादेयत्व प्राप्त होगा, क्योंकि 'अनुपादेय' उसे कहते हैं—जिसका हस्तादिसे ग्रहण न हो सके, परन्तु सुख और दुःखाभाव भी तो आदान क्रियाके विषय नहीं हैं, इससे उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति हुई। इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसके माननेसे इच्छा और इच्छाविषय ये दोनों भी उपादेय हो जायँगे। [तात्पर्य यह है कि 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः' इस न्यायसे इच्छाविषयत्वके अनधिकरणको यदि अनुपादेय कहें, तो इच्छाविषयत्वमें स्वतः उपादेयत्व सिद्ध हुआ। इस अवस्थामें इच्छा और इच्छाविषयत्वसे विशिष्ट जो विषय है, वह उपादेय है] या इन दोनोंसे उपलक्षित विषयस्वरूपमात्र उपादेय है*? यदि अन्तिम पक्ष कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि दुःख भी

---

* तात्पर्य यह है कि 'इदं किंचित्' यह जो निर्विकल्प है, यही एक इच्छाके जनानेमें

उपादेयत्वापत्तेः, ज्ञानविषयस्य एव इच्छाविषयत्वात् । इच्छाजनकस्य च ज्ञानस्य सविकल्पकत्वेन दुःखाभावविशेषणदुःखविषयत्वात् । विषयैकदेश इति चेत् ? न, सुखे तदभावात् ; इच्छाविषयविशेष्यस्वरूपमात्रम् उपादेयमिति चेत् ? न, अहं स्वर्गी स्यामित्यत्र आत्मनोऽपि तथात्वापत्तेः । न

उपादेय हो जायगा ।

शङ्का—दुःखकी कोई भी इच्छा नहीं करता, वह उपादेय कैसे होगा ?

समा०—ज्ञानका विषय ही इच्छाविषय है, [जब कि दुःख ज्ञानका विषय है, तो इच्छाका भी विषय हो गया, क्योंकि ज्ञान, इच्छा, कृति ये तीनों समानविषयक माने गये हैं ।

शङ्का—दुःखाभावज्ञानमें दुःख विशेषणतासे और प्रतियोगित्वरूपसे विषय नहीं माना जाता, क्योंकि वह निर्विकल्प होनेसे वैशिष्ट्यका अवगाहन नहीं कर सकता] ।

समाधान—सुनो, इच्छाजनक ज्ञानको सविकल्पक माना है, इसलिए दुःखाभावका विशेषण दुःख भी उसका विषय हो सकता है † । कदाचित् विषयके एकदेशको उपादेय मानो, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुखमें उसका अभाव रहता है 'अर्थात् सुखविषयिणी जो इच्छा है, उसका सुख एकदेश नहीं है विषयान्तरका अभाव होनेसे । और यदि यह कहो कि इच्छाका विषय विशेष्यस्वरूपमात्र ही उपादेय है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं

समर्थ नहीं है, क्योंकि विषय सौन्दर्यका द्योतक नहीं है और विषय सौन्दर्य ज्ञानजन्य ही इच्छा है यह नैयायिकोंका नियम है अतः विषयकी सुन्दरताका अवगाहन करनेवाला जो ज्ञान है, सो निर्विकल्पक नहीं हो सकता, वैशिष्ट्यावगाही होने से ।

प्रश्न—दुःखाभावका ज्ञान सविकल्पक ही सही परन्तु उसकी दुःखविषयता कैसे हो सकती है ?

उत्तर—अभाव ज्ञानकी विशिष्ट विषयता है, इस कारण प्रतियोगी जो दुःख विशेषण है तद्विषय होने से उसको दुःखविषयता है, इस तरहसे जो कुछ इच्छाका विषय है, वह सभी यदि उपादेय है तो दुःख भी उपादेय हो जायगा ।

† इसमें भी यह विचार करना चाहिये कि जो कुछ इच्छाका विषय है, वह सब उपादेय है या इच्छाविषयका एक देश उपादेय है अथवा इच्छाविषय विशेष्यमात्र उपादेय है ? इन तीनोंमें से पहलेका खण्डन करते हैं ।

तृतीयः, स्वकृतिसाध्ययोरपि दुःखतत्साधनयोः अनुपादेयत्वात् । न चतुर्थः, विशेषणवैयर्थ्यात् । न पञ्चमः, साध्याऽवैशिष्ट्यात् । अन्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, दुःखतत्साधनतादात्म्यस्य अनभ्युपगमपराहतत्वात् । न च सर्वात्मकत्वव्याघातः, सर्वाधिष्ठानत्वस्यैव सर्वात्मकत्वस्वार्थत्वात्, नहि सत्यस्य मिथ्यातादात्म्यमस्ति, सत्यत्वविरोधात् । तथा च अनुपादेयत्वस्यैव निर्वक्तुमशक्यत्वात् किमिदम् अनुपादेयत्वम् आत्मनः अनिष्टम् आपाद्यते इति चेत् ?

न, इतरानुपसर्जनत्वस्यैव उपादेयार्थत्वात् तच्च सुखदुःखाभावयोः एव अन्येषां तदुपसर्जनत्वात् । सुखदुःखाभावेतरश्चाऽऽत्मा भावरूपत्वेन

स्वर्गी स्याम्' (मैं स्वर्गी होऊँ) यहाँपर आत्मा भी उपादेय हो जायगा । [आत्माका उपादेय होना पूर्वपक्षीको अभीष्ट नहीं है ।] यदि तीसरा पक्ष मानो, तो वह भी अव्याप्ति दोषसे ग्रस्त है; क्योंकि स्वकृतिसाध्य जो दुःख और दुःखके साधन हैं, इन दोनोंमें भी अनुपादेयत्व हो सकता है । इसी प्रकार चौथा पक्ष भी ठीक नहीं है, उसमें विशेषणकी व्यर्थता है। अतः पाँचवाँ पक्ष भी उचित नहीं है, साध्यका अवैशिष्ट्य होनेसे (अर्थात् सन्दिग्धासिद्ध जो हेतु है, वह अनुमानमें दोष समझा जाता है) और इनसे भिन्नका निर्वचन करना अशक्य है । तथा दुःख और दुःखसाधनके तादात्म्यका अस्वीकाररूपसे खण्डन भी किया गया है । इससे सर्वात्मकत्वमें व्याघात दोष भी कुछ नहीं आता, क्योंकि सबका अधिष्ठान होना ही सर्वात्मकत्वका अर्थ है 'अर्थात् अध्यस्तको सत्तास्फूर्त्ति देनेवाला अधिष्ठान कहलाता है, मिथ्या कार्यात्मक होना अधिष्ठान नहीं कहाता, इसलिए जब कि अनुपादेयका कथन करना अशक्य ठहरा, तो आत्माके अनुपादेयत्वको अनिष्ट क्यों कहते हो ।

पूर्व०—यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उपादेयका अर्थ है 'इतरानुपसर्जन' अर्थात् अन्य किसीका साधन न होना इस तरहकी उपादेयता सिर्फ सुख या दुःखाभावमें ही है, अन्य आत्मादि तो सुख और दुःखाभावके प्रति उपसर्जन हैं ['अर्थात् आत्मा सुखादिका अधिकरण होनेसे सुखादिके प्रति उपसर्जन है, ऐसे ही और भी जानो ।

शङ्का—सुखरूप या दुःखाभावरूप ही आत्मा मान लिया जाय, तो क्या हानि है ?]

दुःखाभावानात्मकत्वात्। सर्वशून्यात्मकत्वे दुःखाभावात्मकत्वमपि अस्ति इति चेत्, नः विज्ञातुरात्मत्वात्। न च शून्यं विज्ञातृ न च विज्ञानं शून्याश्रयम्, अभावस्य भावधर्मकत्वानुपपत्तेः।

आरोपितो धर्मधर्मिभाव इति चेत्, तर्हि आरोप्यस्य अधिष्ठानं वाच्यम्, नहि निरधिष्ठानो भ्रमोऽस्ति। शून्यमेव इति चेत्, तर्हि शून्यव्यामिश्रमेव सर्वः सर्वं प्रतीयात् न च तथा अस्ति, सत्त्वेनैव सर्वस्य प्रतीतेः। किं च सर्वस्य आरोपितत्वे आरोपाधिष्ठानस्य पूर्वमेव सिद्धिर्वाच्या सा च स्वत एव इति कथं शून्यं स्यात्। नहि शून्यं स्वतः सिद्ध्यति,

---

समाधान—आत्मा सुख या दुःखाभावसे भिन्न है; इसलिए भावरूप होनेके कारण दुःखाभावरूप नहीं हो सकता।

शङ्का—आत्माके सर्वशून्यात्मक होनेसे दुःखाभावरूप भी मान लिया जाय, तो क्या हानि है?

समा०—यह ठीक नहीं है, हम पूछते हैं शून्य ज्ञेय है या ज्ञाता है? इसमें प्रथम पक्ष मानो, तो ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा ज्ञेय नहीं हो सकता, किन्तु विज्ञाता है और शून्य विज्ञाता भी नहीं हो सकता। अन्यथा घटादि भी आत्मा हो जायँगे और विज्ञान शून्याश्रय भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव वस्तुको भावधर्म मानना ठीक नहीं है।

[तात्पर्य यह है कि शून्य सर्वाभाव है तो वह भावका आश्रय कैसे हो सकेगा? अभाव भावधर्मका आश्रय कहीं देखनेमें नहीं आया।]

शङ्का—धर्म-धर्मीभाव आरोपित है। [इसलिए भ्रम की महिमासे सब कुछ हो सकता है, एवं भावाश्रय भी अभाव क्यों नहीं?]

समाधान—अच्छा तो आरोप्य वस्तुका अधिष्ठान बतलाओ, क्योंकि अधिष्ठानके बिना भ्रम नहीं हो सकता, कदाचित् शून्यको ही अधिष्ठान कहो तब तो महा दोष आ पड़ेगा, क्योंकि समस्तका अधिष्ठान ठहरा शून्य। ऐसी अवस्थामें सबको ही सारा विश्व शून्य प्रतीत होना चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं; किन्तु सबको सत् रूपसे प्रतीत हो रहा है। और भी देखो, सबको यदि आरोपित ही माना जाय तो आरोप्यके अधिष्ठानकी सिद्धि पहले से ही कहनी होगी। वह सिद्धि यदि स्वतः ही है तो फिर शून्य कैसे और शून्य स्वतःसिद्ध हो भी

अन्यथा परिभाषामात्रत्वापत्तेः। तस्मात् भावरूपत्वादेव दुःखाभावानात्मकत्वम्। न च सुखात्मकत्वं स्रगादिविषयज्ञानाऽजन्यत्वात् सुखस्य च तज्जन्यत्वात्। अन्यथा तदर्थितया तदुपादानानुपपत्तेः। जन्याजन्ययोश्च अभेदानुपपत्तेः।

न च सुखसंबन्ध एव तेन जन्यः, सुखं मे जातमिति प्रतीतेः, सुखात्मनोः संबन्धस्य समवायस्य अजन्यत्वाच्च। न च स्वात्माऽसंबद्धे स्वतन्त्रे सुखे प्रमाणमस्ति त्वया च अङ्गीक्रियते त्वयापि आत्मतादात्म्यापन्नस्य नित्यसुखस्यैव स्वीकारात्। किंच, सुखात्मनोस्तादात्म्ये अहं सुखमिति प्रतीतिप्रसङ्गः। न च तदस्ति तस्मात् सुखदुःखाभावान्यत्वात् अनुपादेय एव

नहीं सकता ? अन्यथा परिभाषामात्र ही माना जायगा, इसलिए आत्मा भावरूप होनेसे दुःखाभावरूप नहीं है। इसी तरह सुखरूप भी आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा माला, चन्दन आदि विषयज्ञानसे जन्य नहीं है और सुख विषयजन्य होता है। यदि सुखको विषयजन्य न मानो, तो सुख की कामना से चन्दन, माला आदि विषयका ग्रहण करना न बनेगा और फिर जन्य और अजन्यका अभेद भी असिद्ध है [अर्थात् सुख विषयजन्य है और आत्मा अजन्य है, अतः इन जन्य और अजन्यका तादात्म्य—अभेद—ठीक नहीं है।

शङ्का—सुख कार्यरूप नहीं है, अतः उसको जन्य मानना भी ठीक नहीं है।

समा०—यदि ऐसा होता तो सुखार्थी पुरुष चन्दन, माला आदि वस्तुओंका ग्रहण करनेमें प्रवृत्त न होता किन्तु होता है इसलिए सुखको जन्य मानना ही पड़ेगा।] कदाचित् यह कहो कि सुखसम्बन्ध ही केवल चन्दन माला आदि विषयजन्य है सुख नहीं तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'सुखं मे जातम्' इस प्रतीतिसे सुख जन्य ही है, सुख और आत्माका समवाय सम्बन्ध जन्य नहीं हो सकता। और स्वात्मासे असम्बद्ध स्वतन्त्र सुखके माननेमें कोई प्रमाण भी नहीं है, तुम भी ऐसा अङ्गीकार नहीं करते हो। तुमने भी तो आत्माके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त नित्यसुख ही माना है। जन्य सुखका आत्माके साथ तादात्म्य भी ठीक नहीं है। यदि सुख और आत्माका तादात्म्य मान लिया जाय, तो 'अहं सुखम्' ऐसी प्रतीति होने लगेगी, पर ऐसी प्रतीति होती नहीं है। इसलिए आत्मा सुख और दुःखाभावसे भिन्न होनेके कारण अनुपादेय ही है, उपादेय (ग्रहण करने योग्य) नहीं है। और इनसे

आत्मा। न च ताभ्यामन्यः पुरुषार्थोऽस्ति येन आत्मा मुमुक्षूणाम् उपादेयः स्यात्।

न च आत्मत्वमेव परमपुरुषार्थताप्रयोजकं लोके तथा व्यवहाराभावात्। सुखं मे स्यात् दुःखं मा भूदिति आत्मसम्बन्धिसुखदुःखाभावयोरेव काम्यमानत्वात्। न च आत्मा मम स्यादिति कामना अस्ति, न च अकाम्यमानः पुरुषार्थः।

न च अयमलौकिकः पुरुषार्थः, लोकव्यवहारानुल्लङ्घनेनैव वेदेन पुरुषार्थप्रतिपादनात्। अन्यथा अलौकिकत्वात् स्वर्गस्यापि सुखरूपता न स्यात्। किञ्च, किमयं लोकोत्तरः ? येन ऐहिकं पारत्रिकं च ससाधनं सर्वं पुरुषार्थं परित्यज्य आजन्मब्रह्मचर्य्याद्यशेषदुःखजातेन आत्मानमवसादयन् अलौकिकः पुरुषार्थोऽयमात्मेति वदन्नेव कृतार्थः स्यात्। तथा च रागिगीतम्—

अन्य और कोई पुरुषार्थ नहीं है, जिससे कि मुमुक्षुओंको आत्मा उपादेय हो।

कदाचित् यह कहो कि आत्मा ही परमपुरुषार्थताका प्रयोजक है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि लोकमें इस तरहके व्यवहारका अभाव है, और 'सुखं मे स्यात् दुःखं मा भूत्' अर्थात् मुझको सुख हो और दुःख न हो, इस प्रकार आत्मसम्बन्धी सुख और दुःखाभावकी कामना देखी जाती है। और 'आत्मा मम स्यात्' अर्थात् आत्मा मेरा हो, ऐसी कामना करता कोई भी नहीं दीखता, अकाम्यमान पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

कदाचित् कहो कि यह अलौकिक पुरुषार्थ है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेदने भी लोकव्यवहारका उल्लङ्घन न करके ही पुरुषार्थ कहा है, नहीं तो अलौकिक होनेसे स्वर्गकी भी सुखरूपता न बनेगी। और भी सुनो, यह लोकोत्तर क्या है, जिससे साधनसहित ऐहिक और पारलौकिक समस्त पुरुषार्थोंको छोड़कर जन्मसे लेकर ब्रह्मचर्यादि सम्पूर्ण दुःखसमूहसे अपनेको क्लेशित करता और 'यह आत्मा ही पुरुषार्थ है' ऐसा कहता हुआ कृतार्थ हो जाय [अर्थात् प्रसिद्ध सुखको छोड़कर लोकमें अप्रसिद्ध जो पुरुषार्थ है, उसके उद्देश्यसे ब्रह्मचर्यादि क्लेशका सहन करना अनुचित है]

'वरं वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं मन्तुमर्हति गौतम ! ॥' इति ।

किञ्च, यदि अयम् आत्मा पुरुषार्थः स्यात्, कथं तर्हि अप्रयत्नलब्ध-मात्मानम् उपेक्ष्य वैषयिकसुखलोभात् तत्तत्काम्यतीर्थादौ म्रियन्ते प्राणिनः ? न च ते भ्रान्ताः, शास्त्रेणाऽपि तदनुमोदनात्—

'न लोकवचनात् तात ! न वेदवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥'

कुष्ठाद्युपहताश्च दुःखाभावमुद्दिश्य म्रियन्ते इति तु सर्वजनीनम्। तत्किमनात्मैवोपादेयः ? कः संशयः, सुखदुःखाभावयोः तत्साधनानां च पुत्रकलत्रगृहक्षेत्रगोहिरण्यादीनाम् उपादेयत्वस्य अविगीतत्वात् । ननु ऐहि-

---

यह रागी मनुष्योंका कहना है कि हे गौतम, एकान्त वृन्दावनमें गीदड़ वननेकी जो इच्छा करता है वह श्रेष्ठ है, परन्तु निर्विषय (विषयभोगरहित) मोक्षको मानना उचित नहीं है। और भी देखो यदि यह आत्मा ही पुरुषार्थ है तो बिना यत्न ही प्राप्त हुए इस आत्माको छोड़कर विषयसुखके लोभसे प्राणी उन उन काम्यतीर्थादिमें क्यों मरते हैं ? वे भ्रममें पड़े हुए भी नहीं हैं। और शास्त्र भी इसका अनुमोदन करता है—'न लोकवचनात्तात ! ०' (हे तात, लोगोंके कहनेसे या वेदोंके कहनेसे भी प्रयागमरणसे अपनी बुद्धि नहीं हटानी चाहिये)* तात्पर्य यह है कि आत्मा पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु वैषयिक सुख पुरुषार्थ है। [अब आत्माकी अपेक्षासे दुःखाभाव ही पुरुषार्थ है—इस बातको लोकप्रवृत्तिसे दिखाते हैं] लोकमें कुष्ठादि रोगोंसे पीड़ित मनुष्य दुःखके अभावके उद्देश्यसे ही मरते हैं, यह बात सब लोगोंमें प्रसिद्ध है।

प्रश्न—तो क्या अनात्मा ही उपादेय है आत्मा उपादेय नहीं है ?

उत्तर—इसमें क्या सन्देह है, क्योंकि सुख और दुःखाभावके साधन जो पुत्र, स्त्री, गृह, क्षेत्र, गो, सुवर्ण आदि वस्तुएँ हैं, उनकी उपादेयता (संग्रह करना) निर्दोष है।

---

* प्रश्न—प्रयागमरणकी आज्ञा यदि शास्त्र देता है, तो आत्महत्याका निषेध करनेवाले शास्त्रके साथ विरोध होगा।

उत्तर—कुछ विरोध नहीं होगा, क्योंकि आत्महत्यानिषेधक शास्त्र सामान्य है और प्रयागमरणबोधक शास्त्र विशेष है—विशेष बलवान् होता है।

कामुष्मिकसकलसुखतत्साधनजातम् उपेक्ष्य केवलमात्मानमेव उद्दिश्य श्रवणादावपि केचन प्रवर्त्तन्ते एव इति चेत्, ते तर्हि भ्रान्ता भवन्तु; 'बहूनाम् अनुग्रहो न्याय्यः' इति न्यायात् द्वित्रा एव हि ते। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति सुखरूपत्वमपि आत्मनः श्रुतौ श्रूयत इति चेत्,

श्रूयतां नाम, नहि एतावता आत्मा पुरुषार्थः, नहि सुखम् इत्येव पुरुषार्थः, स्वसम्बन्धितयैव तस्य पुरुषार्थत्वात्। अन्यथा शत्रुसुखस्यापि पुरुषार्थत्वापत्तेः। नहि सुखं सुखस्य पुरुषार्थः। सांसारिकमपि सुखं नाना-दुःखसंभिन्नम् अनुपादेयमेव इति चेत्, न; गत्यन्तराभावात्। नहि भिक्षुकभिया स्थाल्यनधिश्रयणम्। आयाति चेत्, दुःखं परिहर्त्तव्यम्। सुखं तु उपादेयमेव।

प्रश्न—इस लोक और परलोकके समस्त सुख और सुखके साधनोंको छोड़कर केवल आत्माके उद्देश्यसे श्रवणादिमें भी कोई-कोई प्रवृत्त होते दिखाई देते हैं, इससे आत्मा पुरुषार्थ है।

उत्तर—वे भ्रान्त हैं, क्योंकि 'बहूनामनुग्रहो न्याय्यः' बहुतोंकी राय ठीक होती है इस न्यायसे श्रवणादि करनेवाले तो दो चार ही मिलेंगे और दुःखाभाव-को पुरुषार्थ माननेवाले शतशः (सैकड़ों) मिलेंगे।

प्रश्न—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुतिमें आत्मा सुखरूप भी तो सुना जाता है।

उत्तर—भले ही सुननेमें आवे, परन्तु इस सुखरूप श्रवणमात्रसे ही आत्मा पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि सुख है सिर्फ इसीसे वह पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु आत्मसम्बन्धी होनेसे वह पुरुषार्थ है, नहीं तो शत्रुसुख को भी पुरुषार्थ मानना पड़ेगा। इसलिए सुख सुखका भी पुरुषार्थ नहीं है।

प्रश्न—सांसारिक सुख भी तो नाना प्रकारके दुःखोंसे मिला हुआ है, तो क्या वह भी अनुपादेय (अग्राह्य) ही है।

उत्तर—नहीं, सांसारिक सुख यद्यपि दुःखसे मिला हुआ है, तथापि अगत्या लौकिक सुख उपादेय है 'अर्थात् दुःखसम्पर्कके भयसे सुखको छोड़ देना अच्छा नहीं है, कहावत है कि 'नहि भिक्षुकभिया स्थाल्यनधिश्रयणम्' (माँगनेवालोंके भयसे चूल्हेके ऊपर बटलोई न चढ़ाना उचित नहीं है, यदि भिक्षुक हैं तो हटा दिये जायँ भूखों क्यों मरे)। ऐसे ही प्रकृतमें समझो यदि

कथं तर्हि आत्मज्ञानार्थं श्रवणादिविधिः, दुःखाभावार्थमेव। एवमात्मनोऽपुरुषार्थत्वे प्राप्ते ब्रूमः—

य आत्मा सर्ववस्तूनां यदर्थं सकलं जगत्।
आनन्दाब्धिः स्वतन्त्रोऽसावनादेयः कथं वद ॥२६॥
यदन्यद्वस्तु तत्सर्वं यद्भेदे नरशृङ्गवत्।
सत्ता सर्वपदार्थानामनादेयः कथं वद ॥२७॥
यद्वशे प्राणिनः सर्वे ब्रह्माद्याः कृमयस्तथा।
ईशानः सर्ववस्तूनामनादेयः कथं भवेत् ॥२८॥
यच्चक्षुः सर्वभूतानां मनसो यन्मनो विदुः।
यज्ज्योतिर्ज्योतिषां देवो नोपादेयः कथं विभुः ॥२९॥

दुःख आ पड़े तो उसे हटा देना चाहिये और सुखको ग्रहण कर लेना चाहिये।

प्रश्न—अच्छा तो आत्मज्ञानके लिए श्रवणादिविधि शास्त्रने क्यों बतलाई।

उत्तर—वह भी दुःखाभावके लिए ही है।

इस प्रकार आत्मामें अपुरुषार्थता प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—

भला कहो तो सही, जो सब वस्तुओंका आत्मा है, जिसके लिए यह समस्त जगत् है, जो आनन्दका समुद्र और स्वतंत्र है वह आत्मा अनादेय (अग्राह्य) कैसे हो सकता है ॥२६॥

आत्मासे भिन्न घट, पट, आदि सम्पूर्ण पदार्थ जिन्हे वैशेषिक आदि मानते हैं, वे जिससे भेद होनेपर नरशृङ्गके समान हैं। और जो समस्त पदार्थोंकी सता है वह आत्मा अनादेय कैसे है, कहो ॥२७॥

ब्रह्मासे लेकर कृमिपर्यन्त समस्त प्राणी जिस आत्माके वशमें रहते हैं, जो सबका नियन्ता है, वह आत्मा अनादेय कैसे है ॥२८॥

जो सब प्राणियोंका चक्षुरूप है, जिसको ऋषि लोग मनका भी मन कहते हैं और जो सम्पूर्ण ज्योतियोंका भी ज्योति है, वह दिव्यस्वरूप तथा व्यापक आत्मा अनादेय कैसे है ॥२९॥

मोदप्रमोदपक्षाभ्यामानन्दात्मा तमोगतः ।
जीवयत्यखिलान् लोकाननादेयः स्वयं कुतः ॥३०॥

यस्यानन्दसमुद्रस्य लेशमात्रं जगद्गतम् ।
प्रसृतं ब्रह्मलोकादौ सुखाब्धिं कः परित्यजेत् ॥३१॥

हैरण्यगर्भमैश्वर्यं यस्मिन् दृष्टे तृणायते ।
सीमा सर्वपुमर्थानामपुमर्थः कथं भवेत् ॥३२॥

यत्कामा ब्रह्मचर्यन्त इन्द्राद्याः प्राप्तसम्पदः ।
स्वस्वभोगं त्यजन्त्येव न पुमर्थः कथं नृणाम् ॥३३॥

यद्दिदृक्षाफलाः सर्वाः वैदिक्यो विविधाः क्रियाः ।
यागाद्याः विहितास्तस्मिन् उपेक्षा वद ते कथम् ॥३४॥

इष्ट वस्तुका स्मरण करनेसे जो हर्ष होता है वह मोद कहलाता है और वही निरन्तर अभ्याससे उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ हो, तो प्रमोद कहलाता है। जो अविद्यामें प्रतिबिम्बित आनन्दात्मा मोद और प्रमोदरूप पक्षोंसे युक्त है और समस्त लोगोंको जीवन देता है, वह आत्मा अनादेय कैसे हो सकता है ॥३०॥

जिस आनन्दसमुद्रका लेशमात्र जगत्में प्राप्त है और ब्रह्मलोकादिमें फैल रहा है ऐसे परमसुखसागर आत्माको कौन छोड़ेगा ॥३१॥

जिसके दर्शनमात्रसे हिरण्यगर्भका ऐश्वर्य तृणके समान हो जाता है और जो सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी सीमा है, वह आत्मा पुरुषार्थ क्यों नहीं है ॥३२॥

जिस आत्माकी कामनासे सम्पत्तिको प्राप्त हुए भी इन्द्रादि देवताओंने ब्रह्मचर्य धारण किया और अपने-अपने भोग छोड़ दिये, वह आत्मा मनुष्योंका पुरुषार्थरूप क्यों नहीं है ॥३३॥

नाना प्रकारकी समस्त वैदिक यागादि क्रियाएँ जिस आत्माके दर्शनरूपफल देनेवाली हैं। अर्थात् यज्ञादि कर्मोंका फल अन्तःकरणशुद्धि द्वारा आत्मदर्शन ही है, स्वर्गादि नहीं है, कहो, उस आत्मामें तुम्हारी उपेक्षा क्यों हुई ॥३४॥

यद्दृष्टिमात्रतः सर्वाः कामाद्या दुःखभूमयः ।
विनश्यन्ति क्षणेनासावुपादेयः कथं न ते ॥३५॥
आह्लादरूपता यस्य सुषुप्ते सर्वसाक्षिकी ।
तत्रोपेक्षा भवेद्यस्य तदन्यः स्यात् पशुः कथम् ॥३६॥

सत्यमितरानुपसर्जनत्वमुपादेयत्वं तच्च आत्मन्येव विश्रान्तम्, सुखदुःखाभावयोरपि तदर्थत्वात् । अन्यथा परसुखदुःखाभावयोरपि उपादेयता स्यात् । तस्मात् आत्मैव परमपुरुषार्थः सुखदुःखाभावात्मकत्वाच्च ।

न च भावरूपस्य आत्मनो दुःखाभावात्मकत्वानुपपत्तिः । भवेदयं दोषो यदि आत्मनि दुःखं पारमार्थिकं स्यात्, न तु एवमस्ति किन्तु अज्ञानफणिफणासमुद्भूतदेहाद्यभिमानविषदंष्ट्राग्रवर्त्तिरागादिलक्षणहालाहलवि-

---

जिस आत्माके दर्शनमात्रसे दुःखके कारण सब काम, क्रोध आदि क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं, वह आत्मा तुम्हें उपादेय क्यों नहीं है ॥३५॥

जिसकी आनन्दरूपता सुषुप्तिमें सबको प्रतीत होती है, उस आत्मामें जो उपेक्षा करे, उससे दूसरा पशु कौन है ॥३६॥

सिद्धान्ती—दूसरेका उपसर्जन (साधन) न होना ही उपादेयत्व है, इस प्रकार जो तुमने उपादेयत्वका लक्षण किया है, वह ठीक है। वह इतरानुपसर्जनत्व (दूसरेका साधन न होना) आत्मामें ही घट सकता है, क्योंकि सुख और दुःखाभाव भी आत्मा ही के लिए हैं [तात्पर्य यह है कि चन्दन, माला इत्यादि जो विषयसुखके साधन हैं, वे सुखोपसर्जन हुए और सर्प, कण्टक इत्यादिका परिहार दुःखाभावके साधन हैं। सुख और दुःखाभावके आत्माके लिए होनेसे समस्त सुखादिसाधनसमूह आत्मामें ही विश्राम पाते हैं] नहीं तो पराये सुख और दुःखाभाव भी उपादेय हो जायँगे, इसलिये आत्मा ही परमपुरुषार्थ है तथा सुख और दुःखाभावरूप भी है।

पूर्वपक्षी—भावरूप आत्माको दुःखाभावरूप मानना युक्तिविरुद्ध है ।

सिद्धा०—यह दोष तो तब आता जब कि आत्मामें दुःख परमार्थसे होता, सो तो है नहीं, क्योंकि अज्ञानरूपी सर्पकी फणोंसे उत्पन्न देहादि अभिमानरूपी विषैली दाढ़के अग्रवर्ती रागादिरूपी हालाहलविषज्वालासे जिसकी आत्मदृष्टि

पज्वालाप्रतिबद्धस्वात्मदृष्टिः सवितरि तमोवन्निर्दुःखेऽपि स्वात्मनि रौरवाद्यनेकभेदभिन्ननरकसमुदायसमुद्भूतदुःखौघमारोपयत्येव केवलम् ।

आरोपितस्य च अभावो न अधिष्ठानात् अतिरिच्यते, अधिष्ठानादभेदेनैव आरोपितत्वात् भेदेन च तस्य असत्त्वात् असन्निषेधस्य च सत्त्वात् । तस्मात् दुःखाभाव एव परमपुरुषार्थं इति यो मन्यते तस्यापि आत्मैव परमपुरुषार्थः, तस्य अशेषसंसारदुःखनिवृत्तिरूपत्वात् । असाध्यत्वात् आत्मनः अपुरुषार्थत्वमिति चेत्, नः साध्यत्वेन पुरुषार्थत्वस्य निरस्तत्वात् ।

स्वतः सिद्धदुःखाभावम् उद्दिश्य मुमुक्षुप्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत्, नः ब्रह्मात्मसाक्षात्कारानन्तरं प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिष्टत्वात् । तत्फलस्य जातत्वात् ।

प्रतिबद्ध हो गई है, वह पुरुष सूर्यमें अन्धकारकी तरह दुःखरहित आत्मामें रौरवादि जो अनेक नरकसमूह हैं उनसे उत्पन्न हुए दुःखसमूहका आरोपण करता है अर्थात् आत्मामें अज्ञानकल्पित दुःखादि हैं, वास्तवमें नहीं हैं ।

जब कि दुःखादि आरोपित हैं तो आरोपितका अभाव अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता, क्योंकि अधिष्ठानमें आरोपित वस्तु अभेदरूपसे रहती है भेदरूपसे उसकी असतरूपता है और असत्का निषेध सत् होता है अर्थात् असत्का अभाव सत् होता है । जब कि दुःखादि असत् हैं तो दुःखाभाव सत् ठहरा बस सत्रूप ही आत्मा है । इसलिए जो पुरुष दुःखाभावको ही परम पुरुषार्थ मानता है उसका भी परम पुरुषार्थ आत्मा ही सिद्ध हुआ, क्योंकि वह आत्मा समस्त संसारदुःखका निवृत्तिरूप है ।

शङ्का—असाध्य होनेसे आत्मा अपुरुषार्थ हो जायगा ।

समाधान—नहीं, पुरुषार्थकी साध्यताका पहले ही खण्डन हो चुका है ।

पूर्व०—जब कि आत्मरूप दुःखाभाव स्वतः सिद्ध है, तो फिर उसके उद्देश्य से मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति न होनी चाहिये ।

सिद्धा०—नहीं, ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद प्रवृत्तिका न होना इष्ट है, क्योंकि उसका फल हो चुका और साक्षात्कारसे पहले तो समस्त दुःखाभावरूप ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसे ही प्रवृत्तिकी सफलता है, पीछे प्रवृत्ति न होनेपर भी कोई हानि नहीं है ।

पूर्वं तु अशेषदुःखाभावरूपब्रह्मात्मसाक्षात्कारेणैव सफलत्वात्। ज्ञानमपि न साध्यं वृत्तेरारोपितत्वात् चैतन्यस्य आत्मत्वात् इति चेत्, न; अस्य परामर्शस्य ज्ञानोत्तरकालीनत्वात्।

दुःखाभावोऽपि न केवलः पुरुषार्थः दृष्टदुःखेऽपि विषये भोग्यसुखलोभेन प्रवृत्तिदर्शनात् इति चेत्, न; आत्मन एव परमानन्दरूपत्वेन सुखस्य अपि सत्त्वात्।

न च अत्र विप्रतिपत्तिः परमप्रेमास्पदत्वेन सुखरूपत्वस्य सिद्धत्वात्

पूर्व०—यह जो आपने कहा कि आत्म-साक्षात्कारसे मुमुक्षुकी प्रवृत्ति सफल है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि हम पूछते हैं वह ज्ञान (साक्षात्कार) वृत्ति है या स्वरूपचैतन्य है? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि वृत्ति आरोपित है, इसलिए वह मिथ्या है, यदि उसको सत्य मानोगे, तो द्वैत सिद्ध हो जायगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अजन्य होनेके कारण वह फल नहीं बन सकती।

सिद्धान्ती—यह तुम्हारा कहना उचित नहीं है, क्योंकि इस तरह का विचार तो ज्ञानके उत्तर कालमें होता है *।

पूर्व०—केवल दुःखाभाव भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि पाकादिमें दुःखके देखे जानेपर भी भोग्य सुखके लोभसे प्रवृत्ति देखी जाती है अर्थात् पाकादिके बनानेमें कष्ट तो अवश्य होता है तथापि उसमें प्रवृत्ति होती है।

सिद्धा०—यह ठीक नहीं है? हम पूछते हैं कि क्या दुःखाभाव पुरुषार्थ ही नहीं हो सकता, यह तुम्हारा कहना है या इसके माननेसे सुख भी पुरुषार्थ हो जायगा यह कहते हो। इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखाभावका उद्देश्य करके शिष्टोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है, वह भी पुरुषार्थ ही है। यदि दूसरा पक्ष कहो तो आत्मा परमानन्दस्वरूप है, इसलिए सुख भी विद्यमान रहा वह भी पुरुषार्थ हो गया, अतः सर्वथा आत्मा ही पुरुषार्थ है। और आत्माको सुखरूप मान लेनेमें कुछ विरोध भी नहीं आता, क्योंकि

* तात्पर्य यह है कि वृत्तिका मिथ्यात्वज्ञान बाधके उत्तर कालमें होता है या बाधसे पहले? इसमें अन्त्य पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि बाधके विना मिथ्यात्व माना ही नहीं जाता और प्रथम पक्षमें कुछ अनिष्ट नहीं है।

असुखात्मनि प्रेमादर्शनात् । न च सुखस्य जन्यत्वात् जन्याजन्ययोः आत्मसुखयोः अभेदानुपपत्तिः, जन्यत्वासिद्धेः । न च सुखं मे जातमिति प्रतीत्या तत्सिद्धिः, शुभादृष्टवशात् आत्मस्वरूपसुखाभिव्यञ्जनयोग्यान्तः-करणवृत्त्युदयेन अन्यथासिद्धेः । न च अहं सुखमिति प्रतीत्यापत्तिः, विद्वांसं प्रतीष्टापादनात् । अविदुषस्त्वध्यस्ताहङ्कारदेहादावेव आत्माभिमानात् तत्र च आत्मन उपसर्जनतयैव स्फुरणात् ।

अत एव ज्ञानसुखादिगुण आत्मेति तार्किका भ्रान्ताः । न च

अतिशयप्रेमास्पद होनेसे उसकी सुखरूपता सिद्ध है, क्योंकि असुखात्मामें प्रेम देखनेमें नहीं आता ।

पूर्व०—सुख विषयजन्य होता है और आत्मा है अजन्य । जन्य तथा अजन्य जो सुख और आत्मा हैं, उनका अभेद कैसे हो सकता है? उनका अभेद मानना अनुचित है ।

सिद्धान्ती—सुख जन्य होता है यह असिद्ध है ।

पूर्व०—'सुखं मे जातम्' (मुझे सुख हुआ) इस प्रतीतिसे ही उसकी सिद्धि है।

सिद्धा०—यह तो शुभकर्मवशसे आत्म-स्वरूप सुखके अभिव्यञ्जन (प्रकाश) के योग्य अन्तःकरणकी वृत्तिके उदयसे अन्यथासिद्ध है ।

पूर्व०—यदि सुखरूप ही आत्मा है, तो 'अहं सुखम्' (मैं सुख हूँ) ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, अर्थात् जब कि सुख और आत्माका तादात्म्य है, तो प्रतीति भी तादात्म्यका अवगाहन करनेवाली होनी चाहिये ।

सिद्धा०—यह प्रतीति विद्वान्को होनी चाहिये या अविद्वान्को? यदि पहला पक्ष मानो, तो विद्वान्को तो यह प्रतीति इष्ट ही है । और यदि दूसरा पक्ष मानो तो अविद्वान्को तो अध्यस्त जो अहंकार और देहादिक हैं, उनमें आत्माका अभिमान रहता है । अतएव वहांपर आत्माका अप्रधानरूपसे स्फुरण होता है [तात्पर्य यह है कि अज्ञानदशामें आत्माका स्वरूप अविद्यासे आच्छादित (ढका हुआ) रहता है । इसलिए स्फुरण नहीं होता और अज्ञान-वशसे आत्माके साथ तादात्म्यरूपसे कल्पित जो देहादिक हैं, वे सुखाधि-करण होनेसे भेदरूपसे प्रतीत होते हैं, अतः अभेदका कथन नहीं होता] ।

इसी कारण भ्रान्त नैयायिकोंने आत्माको ज्ञान, सुख आदि गुणवाला माना है ।

दुःखेऽपि इयं गतिः समा; दुःखस्य सुषुप्त्यादौ व्यभिचारित्वेन आत्मस्वरूपत्वानुपपत्तेः, प्रमाणाभावात् च, सुखात्मकत्वग्राहकश्रुतिविरोधाच्च। तथा च आत्मत्वमेव परमपुरुषार्थताप्रयोजकम्। न च लोकोत्तरत्वोपालम्भः महानुभावैरेव व्यासवसिष्ठादिभिर्महाराजैश्च ऋषभादिभिः ऐहिकामुष्मिकसकलसुखतत्साधनस्य आत्मलिप्सयैव उपेक्षितत्वात्। न च बहुनुग्रहो

पूर्व०—आत्माको दुःखरूप माननेमें यह युक्ति सम ही है, अतः आत्मा दुःखरूप भी हो जायगा [अर्थात् पूर्वोक्त युक्तिसे सुखमें जन्यत्वादि-प्रतीतिके अन्यथासिद्ध होनेसे यदि आत्मा सुखरूप मान लिया जाय, तो आत्मा दुःखरूप भी सिद्ध हो जायगा, क्योंकि दुःखकी जन्यत्वप्रतीति भी पापरूप अदृष्टके वशसे दुःखरूप आत्मस्वरूपकी अभिव्यञ्जक जो वृत्ति है, उस वृत्तिके उत्पादनसे अन्यथासिद्ध है। इस प्रकारकी युक्ति समान रही, तो दुःखरूप आत्मा होना चाहिये]।

सिद्धा०—यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्त्यादिदशामें दुःख व्यभिचारी है अर्थात् नहीं रहता है, इसलिए दुःखकी आत्मस्वरूपता अनुपपन्न है [अर्थात् जैसे सुख सुषुप्तिमें भी अव्यभिचारी है, वैसे दुःख नहीं है, यदि दुःख होता, तो वह प्रतीत होता] और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है, एवं आत्माकी सुखस्वरूपताकी ग्राहकश्रुतिसे विरोध भी है। 'प्रेयो वित्तात्' यह श्रुति सुखरूपताका ही बोधन करती है, दुःखरूपताकी बोधक कोई भी श्रुति अथवा युक्ति नहीं मिलती है, इसलिए सुख तथा दुःखाभावात्मक होनेसे आत्मा ही परमपुरुषार्थताका प्रयोजक है। इससे यह लोकविरुद्धता है, यह उपालम्भरूप दोष भी नहीं है, क्योंकि इस बातको केवल हम ही नहीं कह रहे हैं, बल्कि बड़े बड़े महानुभाव भगवान् व्यास, वसिष्ठ आदि महर्षियोंने और ऋषभ आदि महाराजोंने आत्मप्राप्तिकी इच्छासे ऐहलौकिक तथा पारलौकिक समस्त सुख तथा सुखके साधनोंका त्याग कर दिया। यदि आत्मा पुरुषार्थ न होता तो सुखोंको क्यों छोड़ते ? अब रही यह शङ्का कि बहुतोंका कहना उचित होता है अर्थात् स्वर्गादि सुखको पुरुषार्थ माननेवाले आचार्य बहुत हैं, उनका कहना ठीक है, यह भी उचित नहीं है, [क्योंकि ज्योतिष्टोमादि श्रुतियोंके तात्पर्यको न जाननेके कारण उनको यथार्थ ज्ञान नहीं है, अतएव वे भ्रान्त

न्याय्यः, देहात्माभिमाने तदभावात्। न च सुखरूपत्वेऽपि आत्मनः स्वसम्बन्धिसुखाभावात् अपुरुषार्थत्वम्, सम्बन्धस्य आत्माऽभेदोद्देश्यकत्वात्। सुखं हि अत्यन्तम् उपादेयं कथं मे प्रियतमे आत्मनि अभेदेन प्रविशेदिति कामयमानो भेदभ्रमस्य प्राबल्यादभेदं कर्त्तुमशक्नुवानः सम्बन्धमात्रेण सन्तुष्यति। न च सम्बन्धः स्वतः पुरुषार्थः, सुखदुःखाभावेतरत्वात्। यत्तु सुखस्य सुखं न पुरुषार्थ इति तस्य सुखे अनात्मत्वारोप-

(मूलमें पड़े) हैं] और यदि बहुमत न होनेसे अद्वैतसिद्धान्त न मानो, तो तुम्हारे सिद्धान्तसे भी अधिक बहुमत देहात्मवाद (चार्वाकमत) में है उसीको मानो, परन्तु बहुमत होनेपर भी उसमें ग्राह्यता नहीं है। [यद्यपि श्रवणादि-विधिके तात्पर्यको जाननेवाले मुमुक्षु थोड़े हैं, तो भी उनका कहना प्रमाण है, अतः वे भ्रान्त नहीं हैं, यह भाव है।]

पूर्व०—आत्मा सुखरूप होनेपर भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि केवल सुख पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु स्वसम्बन्धी सुख पुरुषार्थ है। तुम्हारे मतमें स्वसम्बन्धी सुखका अभाव है।

सिद्धान्ती—ठीक है, स्वसम्बन्धी सुख अवश्य उपादेय है, परन्तु आत्मामें सुखसम्बन्ध माननेवालेको भी आत्माको सुखरूप मानना ही इष्ट है, क्योंकि सम्बन्धका उद्देश्य आत्मा और सुख, इन दोनोंमें अभेदकी सिद्धि ही है।

पूर्व०—यदि सुख ही पुरुषार्थ है, सुखसम्बन्ध पुरुषार्थ नहीं है, तो लोग सुखसम्बन्धमात्रसे क्यों प्रसन्न होते हैं।

सिद्धान्ती—सुनो, वास्तवमें सुख ही अत्यन्त उपादेय (ग्राह्य) है, परन्तु 'मेरे प्रियतम आत्मामें अभेदरूपसे सुख कैसे प्रविष्ट हो' इस प्रकार कामना करता हुआ पुरुष भेदभ्रमके प्रबल होनेके कारण अभेद करनेमें असमर्थ होता हुआ सम्बन्धमात्रसे प्रसन्न हो जाता है।

शङ्का—इतनी गुरुकल्पना क्यों करते हो, सुखसम्बन्धको ही साक्षात् पुरुषार्थ मान लो, तो क्या हानि है?

समाधान—सम्बन्ध स्वतः पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि सुख और दुःखाभावसे वह भिन्न है। वादीने पहले जो यह कहा था कि सुखका सुख पुरुषार्थ नहीं है [अर्थात् आत्मा जब सुख है, तो उसको फिर क्या सुख, सुख तो सिद्ध ही है] उसपर सिद्धान्ती कहते हैं 'तस्य सुखे अनात्मत्वा-

निबन्धनत्वात्। न च कुष्ठाद्युपहतानां मरणानुपपत्तिः तत एव आत्मनः सुखरूपत्वसिद्धेः। ते हि परमप्रियतमे आत्मनि दुःखकारणं देह इति तम् उपेक्षन्ते, न तु आत्मानम्। पारलौकिके सुखे कामनादर्शनात्। एतेन काम्यतीर्थादौ मरणं व्याख्यातम्। मरणस्याऽपि देहपरित्यागरूपत्वात्।

आत्मन एव पुरुषार्थत्वे मुक्तसंसारिणोरविशेषापत्तिरिति चेत्, न; ज्ञानाज्ञानाभ्यां विशेषात्। अज्ञानी हि भ्रान्तः कर्त्ता भोक्ता संसारी जरामरणधर्मा इत्येवमात्मानं जानाति विद्वांस्तु तद्विरुद्धाकर्त्रभोक्त्रसंसारि-जरामरणजन्मादिशून्यस्वप्रकाशसच्चिदानन्दपरिपूर्णस्वभावाशनायाद्यतीतास्थू-लानणुनेतिनेतिसत्यज्ञानादिलक्षणसर्वजगदधिष्ठानभूतमात्मानमागमाचार्य्य-स्वानुभवैकवाक्यतया साक्षात्कृत्याशेषदुःखनिदानम् अज्ञानं तत्कार्य्यं च

रोपनिबन्धत्वात्' अर्थात् उस वादीके मतमें सांसारिक सुखमें अनात्मत्व (जड़त्व) का आरोप होनेसे पुरुषार्थता नहीं है। तात्पर्य यह है कि वैषयिक सुखमें जो अनुपादेयता (अग्राह्यता) है, वह अनात्मत्व (जड़त्व) के कारण है और पुरुषार्थत्वमें केवल आत्मा ही प्रयोजक है। कुष्ठादि रोगग्रस्तोंको मरणकी जो अनुपपत्ति दिखाई थी, वह अनुपपत्ति (विरुद्धता) भी नहीं आ सकती, बल्कि उसीसे आत्माकी सुखरूपता सिद्ध होती है, क्योंकि वे रोगी मनुष्य 'प्रियतम आत्मामें दुःखका कारण देह है' ऐसा जानकर उसकी उपेक्षा करते हैं, आत्माकी नहीं करते है, क्योंकि पारलौकिक सुखमें उनकी कामना देखनेमें आती है। इसी युक्तिसे प्रयागादि काम्य तीर्थोंमें मरणका भी निर्वाह हो जाता है। आत्मसुखके लिए जो देहत्याग होता है वह देहत्याग ही मरण कहलाता है।

पूर्वपक्षी—यदि आत्मा ही पुरुषार्थ है तो मुक्त और संसारीमें विशेषता क्या हुई ? आत्मा तो दोनोंका एक-सा ही है।

सिद्धान्ती—नहीं, ज्ञान और अज्ञानसे दोनोंमें भेद है अर्थात् अज्ञानी अपनेको भ्रान्तिसे कर्ता, भोक्ता, संसारी तथा जरामरणधर्मवाला मानता है और विद्वान् इससे विरुद्ध याने अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी, जरामरणजन्म-शून्य, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द, परिपूर्णस्वभाव अशनादिसे अतीत तथा अस्थूल अनणु 'नेति नेति' करके सत्यज्ञानादिलक्षण समस्त जगत्का अधिष्ठान आत्माका शास्त्र, आचार्य और स्वानुभव इन तीनोंकी एकवाक्यतासे साक्षात्कार करके फिर

बाधित्वा देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यपरिपूर्णानन्दविग्रहः स्वमहिम्ना प्रतिष्ठितः परमपुरुषार्थो भवति। न च ततः परं कामयितव्यमस्ति, सर्वेषां कामानामात्मप्राप्तिसीमत्वात्।

ननु आत्मसाक्षात्कारः श्रुतिजन्यः कथं स्यात्, इन्द्रियजन्यस्यैव ज्ञानस्य साक्षात्कारत्वात् शब्दस्य च परोक्षज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यात्। न च अपरोक्षे आत्मनि शब्दस्यापि अपरोक्षज्ञानजनकत्वमेव युक्तमिति साम्प्रतम्। करणस्वभावस्य अन्यथाकर्त्तुमशक्यत्वात् अपरोक्षयोग्येऽपि वह्न्यादौ शब्दादिना परोक्षज्ञानस्यैव जननाच्च। न च परोक्षमपि ज्ञानमभ्यस्यमानमपरोक्षं भवतीति युक्तम्, अनुमित्यादौ तथा अदर्शनात् उत्तरोत्तरज्ञानस्यापि शाब्दत्वाविशेषात्। न च मा अस्तु अपरोक्षज्ञानम्, अपरोक्षभ्रमस्य अज्ञानतत्कार्य्यस्य अनुच्छेदप्रसङ्गात्। तस्मान्नास्त्येव आत्मनि अपरोक्षज्ञानम्।

सम्पूर्ण दुःखोंके मूलकारण अज्ञान और उसके कार्य इन दोनोंका बाध करके देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य परिपूर्ण आनन्दस्वरूप और स्वमहिमासे प्रतिष्ठित हुआ परम पुरुषार्थ होता है। इससे अधिक प्रार्थनीय फिर कुछ नहीं रहता, क्योंकि आत्मप्राप्ति समस्त कामनाओंकी सीमा है।

पूर्व०—आत्माका साक्षात्कार श्रुतिजन्य कैसे हो सकता है, क्योंकि साक्षात्कार तो इन्द्रियजन्य ज्ञान ही माना जाता है और शब्दका स्वभाव परोक्ष ज्ञान जनानेका है। यदि यह कहो कि अपरोक्ष आत्मामें शब्दको भी अपरोक्ष ज्ञानजनकत्व हो सकता है, तो यह ठीक नहीं है, जिस करणका जैसा स्वभाव है उसको अन्यथा (विपरीत) करना अशक्य है और यह एक युक्ति भी है कि वह्न्यादिक अपरोक्षके योग्य हैं, तो भी शब्दादिसे परोक्ष ज्ञान ही होता है अपरोक्ष नहीं होता। यदि यह शङ्का करो कि परोक्ष ज्ञान भी अभ्यास करनेपर अपरोक्ष हो जाता है, तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमित्यादिमें ऐसा देखा नहीं गया। [अर्थात् परोक्ष ज्ञानका अभ्यास अपरोक्ष ज्ञानका जनक नहीं होता] और उत्तरोत्तर ज्ञानमें भी शाब्दजन्यत्वका अविशेष है। अर्थात् पहला ज्ञान जिस तरह शाब्द होनेसे अपरोक्ष प्रतीतिको नहीं जनाता इसी तरह अग्रिम ज्ञानधारा भी अपरोक्ष प्रतीतिको नहीं जना सकती। यदि कहो कि अपरोक्ष ज्ञान न हो क्या हानि है? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि

अत्र वदन्ति—श्रवणाद्यभ्यासजनितशाब्दज्ञानसमुद्भूतभावनाप्रचयसचिवमन्तःकरणमेव आत्मसाक्षात्कारे करणम्। न च भावनाधीनसाक्षात्कारस्य मृतपुत्रसाक्षात्कारवदप्रामाण्यम्, शब्दप्रमाणमूलत्वेन विश्वासात्। न च 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति विरोधः, आगमगम्यत्वेऽपि तुल्यत्वात्। तस्य वाक्यस्य लौकिकशब्दवैदिकसंस्कारासंस्कृतमनोग्राह्यत्वनिषेधपरत्वात्।

अपरोक्ष ज्ञानके न होनेसे अपरोक्षभ्रम, अज्ञान और उसके कार्यका नाश नहीं होगा, इसलिए आत्मामें अपरोक्षज्ञान नहीं है।

पूर्वोक्त शङ्काके समाधानके लिए एकदेशी (मण्डनमिश्रके मतानुयायी) कहते हैं कि श्रवण, मनन आदिके अभ्याससे उत्पन्न हुआ जो शाब्दज्ञान उससे उत्पन्न हुआ जो भावनाका प्रचय (समूह) तत्सहित अन्तःकरण ही आत्मसाक्षात्कारमें करण (साधन) है [अर्थात् शुद्धान्तःकरणसे आत्माका साक्षात्कार होता है]

पूर्व०—यदि भावनाके अधीन साक्षात्कार है, तो मृतपुत्रके भावनाधीन साक्षात्कारकी तरह साक्षात्कार अप्रमाण है।

एकदेशी—यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि शब्दप्रमाणमूलक होनेसे भावनाधीन आत्मसाक्षात्कारमें तो विश्वास है, परन्तु मृतपुत्रादिकी भावनामें कोई भी शब्दप्रमाण नहीं मिलता।

पूर्वपक्षी—तब तो 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इस श्रुतिसे विरोध आ जायगा, क्योंकि यह श्रुति कहती है कि मनके सहित वाणी जहांसे निवृत्त हो जाती है, वह आत्मवस्तु है और तुम कहते हो आत्मा मनका विषय है।

एकदेशी—श्रुतिसे कुछ विरोध नहीं आता, क्योंकि इस तरह का विरोध तो आत्माको वेदका विषय माननेपर भी समान ही है। [अर्थात् जब कि आत्मा मनका विषय नहीं है तो वेदका विषय भी कैसे होगा]। और उक्त श्रुतिवाक्य तो इस बातके निषेधक हैं कि आत्मा न तो लौकिक शब्दका विषय है और न वैदिक संस्कारसे असंस्कृत मनका विषय है।

तन्न, आगमस्यैव आत्मनि अपरोक्षज्ञानजनकत्वात् 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतौ आत्मनि एव औपनिषदत्वविशेषणश्रवणात्। तच्च इतराविषयत्वे सति तन्मात्रविषयत्वे समञ्जसम् अन्यथा प्रमाणान्तराव्यावर्त्तकत्वे विशेषणवैयर्थ्यात्। लौकिकस्यापि वाक्यस्य दशमस्त्वम-

इस प्रकार जब एकदेशीने पूर्वपक्षीका खण्डन किया तो फिर सिद्धान्ती एक देशीका खण्डन करता है—'तन्न' एकदेशीका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि केवल श्रुतिको ही आत्मविषयक अपरोक्षज्ञानजनकता है और अन्य किसीको नहीं है *। 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (उस उपनिषद्गम्य पुरुषको मैं तुमसे पूछता हूँ) इस श्रुतिमें आत्मा के लिए ही 'औपनिषदत्व' विशेषण आया है वह औपनिषदत्व विशेषण उपनिषद्से भिन्नका अविषय और उपनिषन्मात्रका विषय होनेपर युक्तियुक्त है। अन्यथा यदि औपनिषदत्व विशेषणको प्रमाणान्तरका व्यावर्त्तक न मानोगे, तो विशेषण ही व्यर्थ हो जायगा।

शङ्का—शब्द भी तो साक्षात्कार करनेमें कहीं करण नहीं माना गया है, तो फिर वह आत्म-साक्षात्कारमें करण कैसे होगा?

समाधान—'दशमस्त्वमसि' (दसवां तू है) इत्यादि लौकिक वाक्य भी आत्माके विषयमें अपरोक्ष ज्ञानके जनक देखे जाते हैं अर्थात् 'दशमोऽस्मि' (मैं दशवां हूँ) इस प्रकार साक्षात्कार होता है और वहांपर किसी इन्द्रियमें करणता नहीं है, यदि हो तो भी दशमत्वका ज्ञान इन्द्रियसे

* तात्पर्य यह है कि आत्म-साक्षात्कारमें मनके करणत्वकी जो कल्पना की है, वह क्या 'शुद्धात्मासे अन्यके साक्षात्कार करनेमें मनके करणत्वकी जो कल्पना की है अतः लाघवसे वही मन शुद्धात्मसाक्षात्कारमें भी करण मान लिया जाय' यह कहते हो या श्रुतिमात्रके बलसे कहते हो इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, उसका यहाँपर निरूपण ही नहीं है, क्योंकि मन बाह्यपदार्थप्रतीतिकी उत्पत्तिमें करण नहीं है, स्वतन्त्रताके अभावसे और आन्तर दुःखादि साक्षात्कारमें भी करण नहीं है, क्योंकि दुःखादि साक्षिमात्रवेद्य है और आत्म-साक्षात्कार करनेमें भी उसको करणत्व नहीं है उसका यहाँपर विचार ही चल रहा है। कदाचित् कहो कि उपाधियुक्त आत्माके साक्षात्कार करनेमें मनको करणत्वकी कल्पना है तो यह भी ठीक नहीं है। हम पूछते हैं उपाधि अज्ञान है या अन्तःकरण? यदि अज्ञान है तो सुषुप्तिमें अज्ञानोपाधिक आत्माका साक्षात्कार न होगा, क्योंकि वहाँपर मनका अभाव है, और दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि इसमें आत्माश्रय दोष आता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कारके लिए मनकी प्रवृत्ति हुई तो उपाधित्वरूपसे अपनी अपेक्षा अपनेमें रही, और श्रुतिमें भी जो करणता है वह केवल सहकारितामात्रपरक है।

सीत्यादेरात्मनि अपरोक्षज्ञानजनकत्वस्यैव दृष्टत्वात्। प्रमाणस्वभावहानिः स्यादिति चेत्, नः प्रमेयानुसारित्वात् प्रमाणस्वभावस्य प्रमेयस्य च नित्यापरोक्षत्वात्।

न च ज्ञानगतो धर्मोऽपरोक्षत्वम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म। य आत्मा सर्वान्तरः' इति आत्मनोऽपि अपरोक्षत्वश्रवणात्। किं तत् अपरोक्षत्वमिति

नहीं होता, कदाचित् इस ज्ञानको परोक्ष मानो तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'अस्मि' यह जो प्रतीति है यही अपरोक्ष ज्ञानका आकार है।

पूर्वपक्षी—यदि ऐसा है तो प्रमाणके स्वभावकी हानि होगी, [क्योंकि शब्दप्रमाणका स्वभाव परोक्ष ज्ञान जनाना है]।

सिद्धान्ती—यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि प्रमाणका स्वभाव प्रमेयके अनुसार ही रहता है, स्वतन्त्र नहीं रहता [अर्थात् प्रमेयकी अपरोक्षतामें प्रमाणमें अपरोक्षज्ञानजनकता रहती है और उसकी परोक्षतामें प्रमाणमें परोक्षज्ञानजनकता रहती है] प्रकृतमें आत्मरूप प्रमेय नित्य अपरोक्ष है, इसलिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि शब्दप्रमाण आत्माके विषयमें अपरोक्ष ज्ञानका जनक हो सकता है। यद्यपि अपरोक्षता तो घटादि की भी है, तथापि उसकी नित्य अपरोक्षता नहीं है।

पूर्व०— प्रमेयको आपने नित्य अपरोक्ष एकरस कहा है, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रमेय न तो परोक्षैकरस है और न अपरोक्षैकरस है, किन्तु ये दोनों ज्ञानविशेषके औपाधिक धर्म हैं, इसलिए अपरोक्षता ज्ञानगत धर्म है प्रमेयगत धर्म नहीं है।

सिद्धान्ती—यह तुम्हारी भूल है, जोकि अपरोक्षत्वको ज्ञानगत धर्म मानते हो, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (जो आत्मा अव्यवहित प्रत्यक्षरूप है और सबका आन्तर है) इत्यादि श्रुतिसे आत्माकी अपरोक्षता सुननेमें आती है। अतः श्रुतिसिद्ध अपरोक्ष ब्रह्मस्वरूप है औपाधिक नहीं है।

पूर्व०—अपरोक्षका स्वरूप (लक्षण) क्या है?

सिद्धान्त—वास्तवमें प्रमातासे अव्यवहित होना ही अपरोक्षताका लक्षण है, परन्तु वह भी प्रमातामें ही पर्यवसित (खतम) है, क्योंकि वस्तु ज्यों ज्यों प्रमातासे विप्रकृष्ट (दूर) होती है, त्यों त्यों उसमें परोक्षका उत्कर्ष

वेद, वस्तुतः प्रमात्रव्यवहितत्वमेव। तच्च प्रमातरि विश्रान्तं यावद्यावत् प्रमातुर्विप्रकृष्यते तावत्तावत् परोक्षत्वोत्कर्षदर्शनात् तथा च अपरोक्षस्वभावे आत्मनि परोक्षज्ञानं जनयन् वेदो भ्रान्तिमेव जनयेत्, अन्यथास्थितस्य अन्यथाबोधनात्। मोक्षसाधनीभूतस्य च आत्मसाक्षात्कारस्य मनोजन्यत्वे व्यभिचारिकरणजन्यतया अप्रामाण्यप्रसङ्गः।

न च वेदमूलतया प्रामाण्यम्; अपरोक्षतया वेदेन अनवबोधनात् वाङ्मनसातीतत्वश्रुतिव्याकोपाच्च।

न च लौकिकविषयत्वं मुख्ये बाधकाभावात्। न च श्रुतिविषयत्वेऽपि समानो दोषो लक्षणयैव तद्बोधनात्।

देखनेमें आता है। तथा च अपरोक्षस्वभाववाले आत्मामें परोक्षज्ञानको उत्पन्न करता हुआ वेद भी भ्रान्तिको ही उत्पन्न करेगा, क्योंकि उसने अन्यथास्थित वस्तुको अन्यथा ही बतलाया [अर्थात् अपरोक्ष आत्मामें परोक्षताका बोध न करनेसे वेद भी भ्रमरूप हो जायगा।] यदि मोक्षका साधन जो आत्मसाक्षात्-कार है, उसको मनोजन्य मानो, तो व्यभिचारी (दोषयुक्त) करणजन्य होनेसे आत्मसाक्षात्कारमें भी अप्रामाण्य हो जायगा।

कदाचित् यह कहो कि वेदमूलक होनेसे उसमें प्रामाण्य है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेद भी अपरोक्षरूपसे बोधन नहीं करता है और मनको आत्म-साक्षात्कारका करण (साधन) माननेमें 'वाङ्मनसातीत' श्रुतिसे विरोध आता है।

[पूर्व०—वाङ्मनसातीत अर्थात् 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति आत्माको जो मनका अगोचर बतलाती है, वह असंस्कृत मनको अगोचर बतलाती है [अर्थात् आत्मा अशुद्ध मनका विषय नहीं है, किन्तु विशुद्ध मनका विषय है।]

सिद्धा०—तब तो लौकिक असंस्कृत मनमें मन पदकी लक्षणा माननी होगी, परन्तु वह सर्वत्र नहीं मानी जाती है, किन्तु मुख्यके बाधमें उसका मानना उचित है, और प्रकृतमें मुख्य अर्थका बाधक कोई है नहीं।

पूर्व०—आत्माको श्रुतिका विषय माननेमें भी तो दोष समान ही है, क्योंकि श्रुति आत्माको वाणीका अगोचर कहती है।

सिद्धा०—हम शास्त्रको आत्मज्ञानमें अभिधावृत्तिसे करण नहीं मानते, किन्तु लक्षणावृत्तिसे करण मानते हैं, [यहांपर सारांश यह है कि 'वेदान्तविज्ञान-

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्ये लक्षणैव न युक्ता, भागलक्षणया एकदेशपरिग्रहे श्रुतार्थपरित्यागप्रसङ्गात् ।

न च पदयोरेकविभक्त्यन्तनिर्दिष्टयोः सामानाधिकरण्यपरामर्शानन्तरं पदार्थयोरभेदो वाक्यार्थस्तावत् प्रतीयते ; स च विरुद्धस्वभावयोः संसार्य-

---

सुनिश्चितार्थाः' इत्यादि श्रुतियोंके प्रामाण्यसे ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन वेदान्त प्रतीत होता है और 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतिसे उसका निषेध भी प्रतीत होता है, इस तरहका विरोध होनेपर क्या करना चाहिये, क्या दोनोंमें से एक श्रुतिको अप्रमाण माना जाय या दोनोंको प्रमाण माना जाय अथवा श्रुतियोंकी व्यवस्था की जाय ? इनमेंसे पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि वेदवाक्य होनेसे दोनों एकसे प्रमाण हैं, रहा दूसरा पक्ष कि समुच्चय मान लेना चाहिये, यह भी ठीक नहीं है । भला परस्परविरुद्ध दोनोंका एकमें योग कैसे होगा ? इसलिए अब व्यवस्था शेष रही, उसीसे विरोधका परिहार करना उचित है । वह व्यवस्था यों है कि निषेधवाक्य तो अभिधावृत्ति (मुख्यरूप) से आत्मामें शब्दकी प्रवृत्तिको रोकता है और आत्माको वेदान्तगम्य कहनेवाले जो वाक्य हैं, वे सब लक्षणावृत्तिसे आत्मामें शब्दकी प्रवृत्ति बतलाते हैं, इससे कुछ विरोध नहीं आता ।]

पूर्व०—तुमने जो लक्षणावृत्तिसे आत्मामें शब्दकी प्रवृत्ति कही है, यह ठीक नहीं; कारण कि तत्त्वमस्यादिवाक्योंमें लक्षणा ही नहीं हो सकती, क्योंकि भागत्याग लक्षणासे एकदेशका स्वीकार करनेमें प्रसिद्ध अर्थका त्यागदोष प्राप्त होता है * ।

सिद्धान्ती—एकविभक्त्यन्तसे दिखाये हुए 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदोंके सामानाधिकरण्यका विचार करनेके बाद पदार्थोंका अभेद वाक्यार्थ प्रतीत होता है, वह अभेद विरुद्धस्वभाववाले संसारी और असंसारी जो जीव और परमात्मा

---

* तात्पर्य यह है कि 'तत्त्वमसि' वाक्यमें जो लक्षणा मानी है, इसको जहत्स्वार्था तो कह नहीं सकते, क्योंकि आत्माके एकदेशका ग्रहण होता है और अजहत्स्वार्था भी नहीं कह सकते, क्योंकि परोक्षत्वादि धर्मका त्याग करना पड़ता है; उभयरूपा (जहत् अजहत् रूपा) भी नहीं कह सकते, क्योंकि एकदेशमें लक्षणाके द्वारा शब्दकी प्रवृत्ति होनेसे एकदेश शुद्ध चित् सुखरूपके स्वीकार करनेपर श्रुतार्थका त्याग होता है अर्थात् श्रुत जो परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप संसारी और असंसारीरूप अर्थ है, उसका त्याग प्रसक्त होता है ।

संसारिणोर्जीवपरमात्मनोर्न सम्भवतीति मुख्यार्थानुपपत्त्या लक्षणा युक्तेति साम्प्रतम्; श्रुतिसिद्धे अनुपपत्त्यभावात्। न च विरुद्धस्वभावयोर्भेदग्राहिमानान्तरविरोधेन अविरुद्धयोः अंशयोरभेदो बोध्यत इति वाच्यम्, श्रुतिविरोधेन भेदग्राहिप्रमाणस्यैव अप्रामाण्यात्; अन्यथा लक्षणया अपि अखण्डाद्वितीयप्रत्यगात्मबोधनं न स्यात्; सकलभेदग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधात्।

तथा च मुख्यार्थे न अनुपपत्तिः। न च शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धो

हैं, उनका सम्भव नहीं होता, अतः मुख्यार्थका बाध होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंमें लक्षणा ठीक है।

पूर्व०—श्रुतिसिद्ध वस्तुमें अनुपपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए लक्षणा ठीक नहीं है।

सिद्धा०—दोनों विरुद्धस्वभाववालोंका तो अभेद हो नहीं सकता, क्योंकि भेदग्राहक प्रत्यक्षप्रमाणसे विरोध आता है, इसलिए लक्षणासे अविरुद्ध अंशोंके अभेदका श्रुतिसे बोधन किया जाता है *।

पूर्व०—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिविरुद्ध होनेसे भेदका ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होगा, [तात्पर्य यह है कि लौकिक वाक्य तो स्वार्थबोधन करानेमें प्रमाणान्तरमें अविरोधकी अपेक्षा रख सकते हैं, क्योंकि दोनोंमें लौकिकत्व समान है; परन्तु वेद तो अपौरुषेय होनेसे प्रबल है, वह किसकी अपेक्षा रक्खे। इसलिए अपने अर्थके विरोधी प्रमाणान्तरको अवश्य ही बाध लेगा, तब तो स्वार्थानुपपत्ति नहीं है, फिर लक्षणा कैसे?] अन्यथा लक्षणासे भी अखण्ड अद्वितीय प्रत्यगात्माका बोध न हो सकेगा, क्योंकि समस्त भेदग्राही जो प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, उनसे विरोध आता है। [अर्थात् जब कि प्रमाणान्तरका बाध करना श्रुतिको आवश्यक है, तो पहले ही मुख्यार्थके विरोधी प्रमाणको श्रुति बाध ले, लक्षणासे अर्थान्तरपरक क्यों मानी जाय?]

इसलिए मुख्यार्थमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। और भी लक्षणा न होनेमें कारण है कि शक्यसम्बन्धका नाम लक्षणा है, प्रकृतमें शक्य और

---

* सारांश यह है कि लोकवेदाधिकरणन्यायसे वेद भी लौकिक वाक्यकी तरह स्वार्थबोधन कराता है याने प्रमाणान्तर विरोधके विना ही स्वार्थबोधक होता है। प्रकृतमें विशिष्टका भेद तो 'नाहमीश्वरः' इस प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है, पर उसकी उपेक्षा करके केवल शुद्ध चिन्मात्रके अभेदका वेद लक्षणावृत्तिसे बोधन करता है।

लक्ष्यस्य आत्मनोऽसङ्गत्वात्। न च असङ्गेन किञ्चित् सम्बद्ध्यते, न च असम्बद्धो लक्ष्यते तथा अदर्शनात्। न च सर्वथाऽनभिधेयोऽर्थो लक्ष्यते इति दृष्टम्, लक्ष्यपदार्थे मूकताप्रसङ्गात्, तत्राऽपि लक्षणायां लक्षणानवस्थाप्रसङ्गात्। किञ्च, पदाभ्यामेकोऽर्थो लक्ष्यते अर्थद्वयं वा? नाद्यः, एकपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, पदार्थवाक्यार्थयोरविशेषापत्तेश्च।

विशेषे वा अखण्डो वाक्यार्थो न स्यात्। अत एव न द्वितीयः, लक्षणाऽभावप्रसङ्गाच्च। नहि विरुद्धयोः अभेदानुपपत्त्या कृता लक्षणा भिन्नयोः अभेदे पर्यवस्यति।

किञ्च, वेदान्ते तत्त्वमस्यादिवाक्यमेव प्रधानम्, इतरत् सर्वं तदुपकरणमेव; तथा च प्रधानवाक्ये एव कथं लक्षणा? तत्र असमवेतार्थत्वेने-

---

लक्ष्यका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि लक्ष्य शुद्धात्मा असंगी है, और असङ्गीसे किसीका न सम्बन्ध ही होता है और न असम्बद्ध लक्षित ही होता है, क्योंकि असङ्गीमें लक्षणा कहीं देखी नहीं गई है। सर्वथा अनभिधेय वस्तु लक्ष्य होती है, यह कहीं नहीं देखा गया है, क्योंकि अनभिधेय वस्तुको यदि लक्ष्य मानें, तो लक्ष्य पदार्थमें मूकता प्रसङ्ग हो जायगा। यदि उसमें भी लक्षणा मानी जाय, तो अनवस्था हो जायगी। किञ्च, लक्षणाके न होनेमें और भी युक्ति है वह यह कि तत्–त्वम्–इन दो पदोंसे एक ही अर्थ लक्षित होता है या दो अर्थ लक्षित होते हैं। इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जब दोनोंसे एक ही अर्थ लक्षित होता है, तो एक व्यर्थ होगा और पदार्थ तथा वाक्यार्थमें समानताकी भी आपत्ति होगी।

यदि उसमें कुछ विशेषता मानो, तो अखण्ड वाक्यार्थ न होगा; इसीसे दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है और उसके माननेपर लक्षणाके अभावका प्रसङ्ग होगा। क्योंकि दोनों विरुद्ध पदार्थोंके अभेदकी अनुपपत्तिसे की गई जो लक्षणा है उसका भिन्नोंके अभेदमें पर्यवसान नहीं हो सकता। [अर्थात् भिन्न पदार्थोंका अभेद वास्तवमें है ही नहीं, तो लक्षणासे भी वेद कैसे बोधन करेगा।]

और वेदान्तमें 'तत्त्वमसि' 'अयमात्माब्रह्म' इत्यादि महावाक्य ही प्रधान माने जाते हैं और जो वाक्य हैं, वे सब इन्हींके अङ्गभूत हैं, इस दशामें प्रधान वाक्यमें लक्षणा कैसे होगी? अप्रधान वाक्योंमें ही लक्षणा करना उचित है प्रधान

तत्रैव सा युक्ता। गुणे तु अन्याय्यकल्पनेति न्यायात्। अत्र केचित्—तत्त्वमस्यादिवाक्ये लक्षणा एव तावत् न अङ्गीक्रियते। न च विरुद्धयोर्जीवपरमात्मनोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, रज्जुसर्पयोः इव एकस्य बाधेन अपि तदुपपत्तेः। न च अनयोर्मध्ये कस्य बाध इति विनिगमकाभावे यदि परमात्मन एव बाधमाशङ्केत तदा शास्त्रमपुरुषार्थे जीवे पर्य्यवसितमिति न प्रमाणं स्यात् इति वाच्यम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति मन्त्रवर्णात् ब्रह्मणः सत्यत्वे अवधारिते परिशेषात् जीवस्यैव संसारिणो बाधात्। ननु कोऽयं जीवः ? चैतन्यं जड़ो वा ? आद्ये ब्रह्मैव इति बाधानुपपत्तिः। द्वितीये घटादिवद्भोक्तृत्वानुपपत्तिरिति चेत् ? नैष दोषः, चैतन्याभासत्वेन तस्य प्रसिद्धजड़ाजड़विलक्षण-

---

वाक्योंमें नहीं, क्योंकि वे असंबद्ध हैं। और गौण वाक्यमें ही अन्याय्य लक्षणाकी कल्पना होती है, यह न्याय है। इस विषयमें कोई (एकदेशी) यह कहते हैं—

तत्त्वमसि इत्यादि वाक्योंमें लक्षणा मानी ही नहीं जाती है। [यहाँपर सिद्धान्तीकी ओरसे पूर्वपक्षी शंका करता है।]

शङ्का—यदि लक्षणा न मानी जाय तो परस्पर विरुद्ध जीव और परमात्माके सामानाधिकरण्यकी अनुपपत्ति होगी।

समाधान—नहीं होगी, क्योंकि रज्जुसर्पकी तरह एकका बाध होनेपर भी सामानाधिकरण्य बन सकता है।

शङ्का—यदि दोनोंमें से एकका बाध है, तो विनिगम (किसी नियामक) के अभावसे कोई जीवका पक्षपाती ब्रह्मके बाधकी शङ्का कर दे, तब तो शास्त्रका भी अपुरुषार्थरूप जीवमें पर्यवसान होनेसे वह अप्रमाणित हो जायगा।

समाधान—यह नहीं होगा—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इन मन्त्राक्षरोंसे ब्रह्मकी सत्यताका निश्चय होनेपर परिशेषसे संसारी जीवका ही बाध हो सकता है, ब्रह्मका नहीं।

शङ्का—जीव क्या वस्तु है—चैतन्य है या जड़ ? यदि चैतन्य है, तो ब्रह्म सिद्ध हुआ उसका बाध नहीं हो सकता, और यदि कहो कि जड़ है तो घटादिकी तरह इसमें भोक्तृत्व न रहेगा।

त्वात्। न च नीरूपस्य चैतन्यस्य आभासानुपपत्तिः, नीरूपस्याऽपि गगनस्य स्वच्छे जले आभासदर्शनात् 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति श्रुतेश्च। तथा च 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति शास्त्रात् सर्वस्य अज्ञानतत्कार्य्यस्य बाधे केवल आनन्दरूपः परमात्मैव अपवर्गे अवशिष्यते इति न किञ्चित् अनुपपन्नम्।

तन्न, बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः मोक्षार्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च, नहि अन्यस्य मोक्षार्थमन्यो यतते, न वा स्वनाशः पुरुषार्थः। न च दुःखनिवृत्त्या दुःखाभाव एव पुरुषार्थः। कस्य अयं पुरुषार्थः स्यात्, स्वस्यैव बाधितत्वात्। न च जीवात्मा असत्यः, 'अनेन जीवेनात्मना' इति सत्येन

समाधान—यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि जीव चैतन्यका आभास है, अतः प्रसिद्ध जड़से विलक्षण है।

शङ्का—रूप-रहित चैतन्यका आभास कैसे हो सकता है?

समाधान—यह कोई नियम नहीं है कि रूपवान्‌का ही आभास होता है, देखो नीरूप आकाशका भी स्वच्छ जलमें आभास देखनेमें आता है और श्रुति भी कहती है—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (वह उपाधि उपाधिके प्रति प्रतिभास रूप हुआ)। इस प्रकार 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इस शास्त्रसे सर्वशब्दवाच्य जो अज्ञान और अज्ञानकार्य उसका बाध हो जानेसे केवल आनन्दस्वरूप परमात्मा ही अपवर्ग-मोक्ष दशामें शेष रहता है, इसमें कुछ अनुपपत्ति नहीं है।

पूर्वपक्षी—एकदेशीका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे बन्ध और मोक्षमें व्यधिकरणत्व हो जायगा। और यदि जीवका बाध है, तो श्रवणादिमें कौन प्रवृत्त होगा, यदि कहो कि मोक्षार्थी प्रवृत्त होगा, तो हम पूछते हैं कि मोक्षार्थी किसका मोक्ष चाहता है पराया या अपना? इनमें विरोध आनेसे प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरेके प्रयोजनके लिए दूसरा प्रवृत्त नहीं होता है और कदाचित् यह कहो कि मोक्षार्थी अपना मोक्ष चाहता है, तो प्रश्न यह होता है कि स्वनाशका नाम पुरुषार्थ है या स्वदुःखनिवृत्तिका नाम पुरुषार्थ है? इसमें यदि पहला पक्ष मानो तो अपना नाश ही हो गया, तो वह पुरुषार्थ क्या हुआ? यदि कहो कि दुःखनिवृत्तिसे दुःखाभाव पुरुषार्थ है, तो बतलाओ किसका यह पुरुषार्थ समझा जाय जब कि

परमात्मना अभेदश्रवणात् 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिना भेदप्रतिषेधाच्च। न च स्वतः असंसारिस्वभावस्य परमात्मनः संसारिस्वभाव-जीवात्मतानुपपत्तिः, अविद्याद्युपाधिसम्बन्धात् नभोनीलिमवत् उपपत्तेः।

न च 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति वाक्यात् आभासरूपत्वं जीवस्येति वाच्यम्, तत्र हि तत्तन्मनुष्यत्वाद्याक्रान्ततत्तच्छरीरसादृश्यस्यैव प्रतिरूपपदेन विवक्षितत्वात्। भवतु वा प्रतिबिम्बस्तथापि नाऽसत्यः, प्रत्यभिज्ञानेन बिम्बप्रतिबिम्बयोः अभेदग्रहात्। कथं तर्हि भेदव्यवहारः?

अपना ही बाध हो गया। कदाचित् यह कहो कि जीवात्मा असत्य है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अनेन जीवेनात्मना' इस श्रुतिसे सत्य परमात्माके साथ अभेद सुननेमें आता है, यदि जीव असत्य होता, तो सत्य परमात्माके साथ श्रुति अभेद क्यों कहती और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे भेदका निषेध भी देखा जाता है।

एकदेशी—स्वतः असंसारी-स्वभाव परमात्माका संसारी-स्वभाव जीव बन जाना, तो अयुक्त है।

पूर्व०—यह अविद्यादि उपाधिके वशसे आकाशकी नीलिमाकी तरह उपपन्न हो सकता है।

एकदेशी—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इस वाक्यसे तो जीवकी आभास-रूपता प्रतीत होती है।

पूर्वपक्षी—वहाँपर प्रतिरूपशब्दसे उन-उन मनुष्यत्व, पशुत्व आदि धर्मावच्छिन्न उन-उन शरीरसादृश्योंका ग्रहण है, जैसे कि मुद्राप्रतिमुद्रान्यायमें प्रतिमुद्राशब्दसे मुद्राका सादृश्य लिया जाता है और कोई दूसरा अर्थ नहीं, वैसे ही प्रतिरूपशब्दसे भी रूपसादृश्य ही लिया जाता है। अन्यत्र कहा भी है—'देहं देहं प्रविष्टः सन् तत्तद्देहाकारतामगात्' अर्थात् प्रत्येक देहमें प्रविष्ट हुआ आत्मा तत्तत् देहाकारताको प्राप्त हुआ। अथवा प्रतिबिम्ब (आभास) ही सही, तो भी वह असत्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञासे बिम्ब-प्रतिबिम्बका अभेद जाना जाता है अर्थात् 'तदेवेदं मुखम्' (वही यह मुख है) इस प्रत्यभिज्ञाके अनुरोधसे बिम्बके सत्य होनेसे प्रतिबिम्ब असत्य कैसे हो सकता है?

एकस्मिन् एव स्वरूपे सर्वकल्पनारहिते मुखचन्द्रादौ विम्बप्रतिबिम्बस्वरूपमिति त्रिविधव्यवहारस्य उपाध्यनुप्रविष्टत्वारोपानन्तरं दर्शनात्। तस्मात् तत्त्वमस्यादिवाक्ये बाधायां सामानाधिकरण्यमिति कल्पना वेदबाह्या, न न्याय्या। अतो लक्षणया परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यगात्मबोधनम् अनुपपन्नमिति।

अत्र उच्यते—

विरुद्धयोरभेदो हि न वेदेन प्रमीयते।
अनन्यगतिकत्वेन मानान्तरस्य बाधनम् ॥३७॥

यदत्र उक्तं मुख्यार्थानुपपत्त्यभावात् न लक्षणा इति, तत् न, विरुद्धयोर्जीवपरमात्मनोः अभेदस्य प्रमाणेन बाधितत्वात्। नहि विरुद्धयोः अभेदः क्वचित् प्रमाणेन दृष्टः, न च मानान्तरस्य वेदेन बाधितत्वात् न

एकदेशी—भेदव्यवहार क्यों होता है?

पूर्व०—जैसे कि समस्त कल्पना रहित एक स्वरूप मुख, चन्द्र आदिमें बिम्ब, प्रतिबिम्ब और स्वरूप इस प्रकार तीन तरहका व्यवहार दर्पण आदि उपाधि में मुख्य प्रविष्ट है, ऐसे आरोपके अनन्तर देखनेमें आता है, वैसे ही प्रकृतमें भी जानो, अतः 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंमें बाध होनेपर सामानाधिकरण्यकी जो कल्पना की गई है, वह वेदविरुद्ध है और अयोग्य है। इसलिए लक्षणासे परिपूर्ण सच्चिदानन्द प्रत्यगात्माका बोध होना अयुक्त है। इसपर सिद्धान्ती कहता है इस विषयमें हम कहते हैं, सुनो—

दोनों विरुद्ध पदार्थोंका अभेद वेदसे प्रतीत नहीं होता और परिपूर्ण सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मके अखण्डार्थकी सिद्धिके लिए जो अन्य प्रमाणोंका बाध किया गया है, वह तो अन्य गतिके न होनेसे किया गया है ॥ ३७ ॥

सिद्धान्ती—यहांपर जो तुमने कहा है कि मुख्यार्थकी अनुपपत्ति नहीं है, अतः लक्षणा नहीं हो सकती, यह ठीक नहीं है; क्योंकि दो विरुद्धस्वभाववाले जीव और परमात्माका अभेद प्रमाणसे बाधित है, क्योंकि दो विरुद्ध-स्वभाववालोंका अभेद कहींपर भी प्रमाणसे देखा नहीं गया है, [अतः मुख्यार्थकी अनुपपत्तिसे लक्षणाका मानना उचित है] कदाचित् यह कहो कि वेदसे प्रमाणान्तरके बाधित

अनुपपत्तिः, नहि बाध्यमित्येव बाध्यते, किन्तु स्वविषयसिद्ध्यन्यथा-नुपपत्त्या; इह तु वृत्त्यन्तरेण अपि तदुपपत्तेर्मुख्यार्थे अनुपपत्तिरेव, अन्यथा सर्वत्र लक्षणोच्छेदप्रसङ्गः। लोकेऽपि निश्चितप्रामाण्ये एव लक्षणा। तथा च तादृशवाक्यविरोधेन विरोधिमानान्तरस्य बाधितत्वात् अनुपपत्त्यभावात् न लक्षणा स्यात्।

न च लक्ष्यार्थस्य असङ्गस्य वाच्यार्थेन सम्बन्धानुपपत्तिः, स्वतोऽसङ्ग-स्याऽप्यविद्यान्तःकरणाद्युपाधिसंसर्गस्य अविद्याध्यारोपितस्य दिवान्धपरि-कल्पितसवितृतमःसंसर्गवत् उपपत्तेः।

कल्पितसम्बन्धेन लक्षणा पारमार्थिकी न स्यात् इति चेत्, न उच्चै-

---

हो जानेसे अनुपपत्ति नहीं है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाध्य है, इसीसे ही कोई बाधित नहीं होता, किन्तु स्वविषय-सिद्धिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे बाध्य वस्तु बाधित होती है, 'तत्त्वमसि' वाक्यमें तो लक्षणावृत्तिसे भी निर्वाह हो सकता है, इसलिए मुख्यार्थमें अनुपपत्ति ही है, अन्यथा सर्वत्र ही लक्षणाका उच्छेद हो जायगा, क्योंकि लोकमें भी प्रामाण्यनिश्चयके बाद ही लक्षणा होती है। तब इस प्रकार उक्त वाक्यविरोधसे विरोधी जो अन्य प्रमाण हैं, उनके बाधित होनेसे अनुपपत्ति न रहेगी, तो फिर लक्षणा भी न होगी।

पूर्व०—लक्ष्यार्थ जो शुद्ध असङ्ग ब्रह्म है, उसका वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध होना तो अयुक्त है।

सिद्धा०—कुछ अयुक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि आत्मा स्वतः असङ्ग है, तथापि अविद्यासे अध्यारोपित अविद्या, अन्तःकरण इत्यादि सम्बन्धकी कल्पना तो दिवान्ध (उलूकादि) से कल्पित सूर्यमें अन्धकारकी तरह आत्मामें उपपन्न हो सकती है *।

पूर्व०—जब कि उपाधि कल्पित है, तो उसका सम्बन्ध भी कल्पित ही

---

* तात्पर्य यह है कि अविद्योपाधिक चैतन्य तो तत्पदका वाच्य है और अन्तःकरणो-पाधिक चैतन्य त्वंपदका वाच्य है। इन दोनोंका लक्ष्य जो प्रत्यग्ब्रह्मैक्य है, वह तत्त्व-साक्षात्कारसे पूर्व अवस्थामें अविद्याका विरोधी नहीं है, इस दशामें अविद्या कल्पित सम्बन्ध भी विद्यमान ही रहा, तो फिर अविद्योपाधिकमें लक्षणा क्यों नहीं?

वाच्यम्, अद्वैतविरोधेन एव द्वैतस्य असत्यत्वेऽपि अद्वैतवादिनां सिद्धान्तविरोधस्याऽतिस्पष्टत्वात्।

न च लक्ष्यपदार्थे मूकताप्रसङ्गः, पदार्थप्रतिपादकविज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादिनैव तत्पदार्थप्रतिपादनात् तत्र च लक्षणाभावात् न अनवस्था। न च ज्ञानत्वादिसामान्यवैशिष्ट्ये निर्धर्मकलक्ष्यपदार्थासिद्धिः; नानोपाधिसम्बद्धव्यक्त्यतिरिक्तसामान्यानभ्युपगमात्।

ठहरा, तब तो कल्पित सम्बन्धसे लक्षणा भी परमार्थ न होगी, किन्तु कल्पित ही होगी।

सिद्धान्ती—बस, जोरसे मत कहो, क्योंकि अद्वैतसे विरुद्ध होनेके कारण द्वैतके मिथ्या होनेपर भी अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तमें कुछ हानि नहीं है। [अर्थात् जैसे कि मिथ्या द्वैतके कल्पित होनेसे अद्वैत सिद्धान्तमें हानि नहीं है, वैसे ही सम्बन्धके कल्पित होनेसे भी कुछ हानि नहीं है] पहले वादीने कहा था कि पदसे लक्ष्यकी उपस्थिति होती है या नहीं? यदि नहीं होती है, तो लक्ष्य पदार्थमें मूकताका प्रसङ्ग होगा, इसका खण्डन करते हैं—लक्ष्य पदार्थमें मूकताप्रसङ्ग भी नहीं आ सकता, क्योंकि पदार्थके प्रतिपादक जो विज्ञान, आनन्द, ब्रह्म इत्यादि पद हैं, उन्हींसे 'तत्' पदार्थका कथन हो जाता है और उन सत्यादि पदोंमें लक्षणा भी नहीं है, इसीसे अनवस्था दोष भी नहीं आता है।

पूर्व०—ज्ञानत्व, सत्यत्व इत्यादिजातिविशिष्ट होनेसे यावद्धर्मशून्य लक्ष्य पदार्थकी सिद्धि कैसे होगी, अर्थात् सत्यादिशब्दकी प्रवृत्ति सत्यत्व-ज्ञानत्वधर्मवालेमें है। उस सत्यादिशब्दसे लक्ष्यरूप जो शुद्ध ब्रह्मात्मैक्य है, उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है?

सिद्धान्ती—यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि नाना उपाधियोंमें सम्बद्ध जो चैतन्य है, उससे अतिरिक्त सामान्य (जाति) का हम स्वीकार नहीं करते हैं। [तात्पर्य यह है कि ज्ञानशब्दका हम ज्ञानव्यक्तिमें संगतिग्रह नहीं मानते, क्योंकि इसमें आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं। कदाचित् कहो कि ज्ञानत्व जातिवाली जो व्यक्तियाँ हैं, उनमें ज्ञानशब्दका संगतिग्रह है, तो प्रश्न यह होता है कि यह जाति, व्यक्ति और सम्बन्ध इन तीन पदार्थोंको माननेवालेका मत है या जातिमात्रको पदार्थ माननेवाले वादीका मत है? परन्तु ब्रह्मको

अनुगतव्यवहारस्य अनुगतव्यक्त्या एव उपपत्तेः प्रतिबिम्बेषु बिम्बवत्। त्वमर्थस्तु उक्तविधया साक्ष्यादिपदेन वक्तुं शक्य एव।

न, च साक्षिणि विप्रतिपत्तिः, सर्वप्रमाणव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्।

वाच्यत्वकी हानि तो दोनों मतमें नहीं है क्योंकि सामान्य (जाति) नाना व्यक्तियोंमें अनुगत है और उन्हीं व्यक्तियोंमें अनुगत व्यवहारका कारण भी माना जाता है, परन्तु वह ज्ञानत्वसामान्य ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, क्योंकि ज्ञानत्व व्यक्तिसे स्वीकृत हुईं जो भिन्न २ उपाधियां हैं, उनमें अनुगत (अनुस्यूत) जो व्यक्ति है, उससे भिन्न सामान्य कोई चीज नहीं है। यहांपर (व्यज्यते अनया सा व्यक्तिः) इस व्युत्पत्तिसे व्यक्तिशब्दका अर्थ चैतन्य है, इसलिए दोनों मतोंमें ज्ञानत्वके स्थानमें (बदलेमें) शुद्ध ब्रह्म ही वाच्य है, वैसे ही सत्यादि पदोंमें भी जान लेना चाहिये। नैयायिकोंने जो जातिकी पृथक् कल्पना कर रक्खी है, उसका मानना निष्फल है] क्योंकि अनुगत व्यक्तिसे ही (अर्थात् अनेक उपाधियोंमें अनुस्यूत जो चैतन्य है, उसीसे अनुगत व्यवहारकी सिद्धि हो सकती है, इसपर दृष्टान्त है कि 'प्रतिबिम्बेषु बिम्बवत्' जैसे कि दस जलपात्रोंमें दस ही चन्द्रप्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं और वहांपर भी 'अयं चन्द्रः अयं चन्द्रः' इस प्रकारका अनुगत व्यवहार होता है, परन्तु यह व्यवहार चन्द्रत्वजातिका किया हुआ नहीं है, क्योंकि वहांपर व्यञ्जकके न होनेसे चन्द्रत्व जातिका स्वीकार नहीं है, किन्तु सब उपाधियोंमें अनुगत जो चन्द्रव्यक्ति है उसीसे वहांपर अनुगत व्यवहार किया जाता है, वैसे ही अन्तःकरणवृत्तियोंमें अभिव्यक्त जो चैतन्यात्मक ब्रह्म व्यक्ति है, उसीसे वहांपर अनुगत व्यवहारका सम्पादन किया जाता है। अतः ज्ञानत्व जाति मानना व्यर्थ ही है, इसीसे सत्यत्व जातिका भी खण्डन हो गया। 'त्वम्' शब्दका लक्ष्यार्थ, तो उक्त प्रकारसे साक्षी आदि पदसे भी कहा जा सकता है।

पूर्व०—पहले तो साक्षीमें ही विप्रतिपत्ति है, अर्थात् साक्षी तुम किसे कहते हो परमात्माको या जीवात्माको ? परमात्मा तो साक्षी हो नहीं सकता, क्योंकि वह असङ्ग है और बिना साक्ष्य सम्बन्धके लोकमें कोई साक्षी प्रसिद्ध है नहीं। अब रहा जीव, वह भी साक्षी नहीं हो सकता, क्योंकि भोक्ता होनेसे उसमें साक्षित्वकी अनुपपत्ति है। उदासीन ही साक्षी हो सकता है। यदि इन दोनोंसे

अज्ञातस्य अप्रमाविषयस्य साक्षिव्यतिरेकेण सिद्ध्यभावात् प्रमाणसिद्धत्वे अज्ञानस्य निवृत्तिर्न स्यात् तथात्वे वा प्रमाणवैयर्थ्यात् प्रमाणकृतातिशयाभावात् भ्रमसिद्धस्य प्रमाणविषयत्वविरोधात् ।

तथा च प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वमेव अज्ञातत्वेन साक्षिणा साधितमेव प्रमेयं प्रमाणं विषयीकरोतीति युक्तम् अतो न अत्र विप्रतिपत्तिः । तथा च सुरेश्वरः—

भिन्न किसी तीसरेको साक्षी कहो, तो असिद्ध होनेसे वह असम्भव है, इसलिए साक्षीमें ही विप्रतिपत्ति है ।

सिद्धान्ती—तुम जो साक्षीका अभाव कहते हो क्या वह प्रमाणाभावसे कहते हो या निष्प्रयोजन समझकर कहते हो ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे सम्पूर्ण प्रमाणोंका उच्छेद हो जायगा अर्थात् साक्षीके अभावमें प्रमाणव्यवहारका अभाव हो जायगा, क्योंकि 'अनधिगतार्थगन्तृ' अर्थात् अज्ञात वस्तुको बोधन करानेवाला प्रमाण कहा जाता है, प्रमाणविषयत्वसे सम्मत जो वस्तु है, उसमें अनधिगतत्व (अज्ञातता) किस तरहसे है, प्रमाणसे या भ्रमसे अथवा स्वतः या अन्य किसीसे है । इन चारों पक्षोंमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाविषयत्वके अयोग्य जो अज्ञान है उसकी सिद्धि साक्षीके बिना हो नहीं सकती । याने साक्षीसे ही अज्ञानकी सिद्धि होती है । यदि अज्ञानको प्रमाण सिद्ध कहोगे, तो अज्ञानकी निवृत्ति न होगी । यदि कहो कि हम ऐसा ही मानते हैं, तो प्रमाणकी व्यर्थता होगी, क्योंकि प्रमाणका किया हुआ जो अतिशय है 'अर्थात् अज्ञानकी निवृत्ति' वह यदि प्रमाणसे न हो सकी तो प्रमाण व्यर्थ है, अतः अज्ञातत्व प्रमाणसिद्ध नहीं है । कदाचित् दूसरा पक्ष (भ्रमसे अज्ञानकी सिद्धि) मानो तो वह भी नहीं बनता क्योंकि भ्रमसिद्धको प्रमाणविषय कहना विरुद्ध है । और जड़ होनेके कारण स्वतः सिद्ध भी नहीं है । रहा चौथा पक्ष, यदि वह अज्ञान अन्यसे सिद्ध है, तो बस वही साक्षी है अर्थात् जिससे अज्ञानकी सिद्धि है वही साक्षी है ।

उसीको कहते हैं प्रमाणप्रवृत्तिसे पहले अज्ञातरूपसे साक्षीसे सिद्ध हुआ जो प्रमेय (वस्तु) उसीको प्रमाण विषय कर सकता है, यही युक्त बात है,

'प्रमाणमप्रमाणं वा प्रमाभासस्तथैव च।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसम्भावना कुतः ? ॥'

न च पदयोरेकार्थत्वानेकार्थत्वविकल्पः, एकार्थत्वेऽपि वाक्यप्रमाणजन्यस्यैव ज्ञानस्य भेदभ्रमनिवर्त्तकत्वात्। न च एकपदवैयर्थ्यं तेन विना विरोधाभावेन लक्षणया अखण्डवाक्यार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् पदमात्रस्य अप्रमाणत्वाच्च।

न च प्रधानवाक्ये लक्षणानुपपत्तिः, इतरानुपसर्जनार्थप्रतिपादकत्वमेव

अत एव साक्षीमें किसी प्रकारकी विप्रतिपत्ति नहीं आती। इसमें सुरेश्वराचार्यका कथन भी प्रमाण है—प्रमाण अथवा अप्रमाण और प्रमाणाभास ये तीनों जिस साक्षीमें प्रमा करते हैं, उस साक्षीकी असम्भावना कैसे हो सकती है। और तत् त्वम्-पदोंका एकार्थमें लक्षणा है, अथवा अनेकार्थमें लक्षणा है, यह विकल्प भी नहीं हो सकता, यद्यपि पदोंकी एकार्थमें लक्षणा है, तथापि दोनों पद स्वीकार करने योग्य हैं; क्योंकि वाक्य प्रमाणजन्य जो ज्ञान होता है, वही भेदभ्रमका निवर्त्तक होता है।

पूर्व०—जब कि दोनों पदोंका एक ही अर्थ है, तो उनमेंसे एक व्यर्थ क्यों नहीं [अर्थात् भेदकृत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ऐक्यज्ञान अपेक्षित है, तो वह ऐक्यज्ञान एक पदसे हो सकता है, दूसरे पदकी फिर क्या आवश्यकता है ?

सिद्धा०—द्वितीय पदके विना विरोध नहीं होगा, उसके न होनेसे लक्षणाके द्वारा अखण्ड वाक्यार्थका कथन करना अशक्य होगा और केवल पदमात्रको अप्रमाणता भी है। (अर्थात् प्रमाणज्ञान, भेदभ्रमको हटा सकता है, विषयसे मिथ्या ज्ञान भेदभ्रमको नहीं हटा सकता पर वह ऐक्यज्ञान एक पदसे नहीं होता, क्योंकि केवल पद ही प्रमाका कारण नहीं है, इसलिए भेदभ्रमको निवृत्त करनेवाला जो ज्ञान उसकी उत्पत्तिके लिए तथा वाक्यत्व ज्ञानके लिए पदान्तर (दूसरे पद) की अपेक्षा है।

पूर्व०—दोनों पदोंके एकार्थ होनेपर पर्यायवाचक शब्दोंकी तरह वाक्यत्वकी अनुपपत्ति होगी।

सिद्धान्ती—न होगी, प्रवृत्तिनिमित्तका भेद भी तो है (अर्थात् त्वम्-पदमें प्रवृत्तिनिमित्त भोक्तृत्वादि हैं और 'तत्' पदार्थमें सर्वज्ञत्वादि हैं, इसलिए वाक्यत्वकी क्षति नहीं है)। और प्रधान वाक्यमें लक्षणाकी अनुपपत्ति भी नहीं है,

हि प्रधानत्वं नाम तच्च लक्षणया मुख्यया वा इति अन्यदेतत्। न च न्यायविरोधः, यत्र प्रतिपाद्यस्य अर्थस्य शब्दशक्तिगोचरत्वं तत्र न्यायावतारात्।

ननु कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यनेकसंसारधर्मेभ्यो निष्कृष्टस्य प्रत्यगात्मनोऽवस्थात्रयानुगतस्य शुद्धस्य चिदंशस्य परमात्मना जगत्कर्तृत्वादिभ्यो निष्कृष्टेन आकाशाद्यनुस्यूतेन शुद्धेन परिपूर्णसच्चिदानन्दस्वभावेन अभेदो लक्षणया बोध्यते इति प्रतिपादितम्।

तथा च सर्वो भेदो न निराकृतः स्यात्, अनात्मभेदस्य तदवस्थत्वात्।

क्योंकि इतरानुपसर्जन (अर्थात् अन्य किसीका जो साधन न हो) तद्रूप अर्थका प्रतिपादक (कथन करनेवाला) ही प्रधान कहा जाता है, वह प्रतिपादन मुख्य वृत्तिसे हो या लक्षणासे हो, यह दूसरी बात है।

पूर्व०—यह बात 'गुणे त्वन्याय्य कल्पना' इस न्यायसे विरुद्ध है।

सिद्धा०—उक्त न्याय विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जहांपर प्रतिपाद्य अर्थ शब्दशक्तिका विषय रहता है, वहींपर न्यायका अवतरण होता है। इसलिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य लक्षणावृत्तिसे प्रत्यगात्मा और ब्रह्मकी एकताका बोधन करते हैं। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इस वाक्यसे कुछ विरोध नहीं आ सकता।

पूर्व०—सुषुप्त्यादि अवस्थावाला तथा कर्तृत्वादिविशिष्ट चैतन्य त्वंपदका वाच्यार्थ है और जगत्कर्तृत्वादिविशिष्ट आकाशादिका उपादान तत्शब्दका वाच्यार्थ है। वहाँपर त्वंपदार्थमें विरुद्ध अंश जो कर्तृत्वादि हैं और तत् पदार्थमें विरुद्ध अंश जो जगत्कर्तृत्वादि हैं, इनको छोड़कर इन विरोधी अंशोंसे निष्कासित हुआ जो सत्, चित्, सुखरूप, शुद्ध, अखण्डैकरस जीवब्रह्मका ऐक्य है, वह महावाक्यसे लक्षणाद्वारा बोधित होता है, यह आपने कहा, परन्तु इतनेसे सम्पूर्णभेदका निराकरण (खण्डन) कैसे हो सकता है? * अनात्मभेद तो बना ही हुआ है और वह प्रत्यक्ष सिद्ध भी है।

---

* आशय यह है कि यद्यपि अवस्थात्रयमें अनुगत इस विशेषणकी तथा आकाशादि अनुस्यूत, इस विशेषणकी महिमासे विजातीय भेदका भी खण्डन हो गया, क्योंकि व्यभिचारी पदार्थ कल्पित होनेसे सूत्र दण्डधाराकी तरह मिथ्या है और 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुतिने कार्यरूप आकाशादिको मिथ्या कहा है अतः तत्प्रतियोगिक भेद भी मिथ्या सिद्ध हुआ, तथापि विशेषणके तात्पर्यको न जाननेवालेकी शङ्का ठीक ही है।

न च आत्मपरमात्मनोर्भेदग्राहकप्रमाणवत् अनात्मभेदग्राहकस्यापि प्रत्यक्षादेः अप्रामाण्यमेवेति साम्प्रतं, दृष्टान्तासिद्धेः नहि। आत्मपरमात्मनोर्भेदग्राहकं मानमस्ति तयोः स्वयम्प्रकाशत्वेन मानाविषयत्वात् विशिष्टविषयस्य मानस्य विशेषणभेदगोचरत्वेन अन्यथासिद्धस्य आत्मपरमात्मभेदासाधकत्वाद् विशेष्याभेदग्राहकेण तत्त्वमस्यादिप्रमाणेन बाधितत्वात् न च अनात्मभेदग्राहकस्य प्रत्यक्षादेर्बाधकमस्ति।

न च अनात्मस्वरूपगोचरत्वेऽपि प्रत्यक्षादेर्न भेदगोचरत्वं धर्मिप्रति-

सिद्धान्ती—यह बात अयुक्त है, क्योंकि जैसे आत्मा और परमात्माके भेदग्राहक प्रमाण अप्रमाण हैं, वैसे ही अनात्मभेदग्राहक प्रत्यक्षादि भी अप्रमाण ही हैं।

वादी—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि तुमने जो 'आत्मपरमात्मनोर्भेदग्राहकप्रमाणवत्' यह दृष्टान्त दिया है, वह असिद्ध है।

सिद्धान्ती—असिद्ध कैसे है? 'नाहमीश्वरः' यह प्रत्यक्ष तो विद्यमान ही है?

वादी०—आत्मा और परमात्माका भेदग्राहक प्रमाण कोई है ही नहीं, क्योंकि वे दोनों स्वयंप्रकाशरूप हैं, अतः प्रमाणके विषय नहीं हो सकते। कदाचित् कहो कि कर्तृत्वादिविशिष्ट आत्मा प्रमाणका विषय हो सकता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण विशेषणभेदविषयक होनेसे अन्यथासिद्ध है, अतः कर्तृत्वादिविशिष्टको विषय करनेवाला प्रमाण आत्मा और परमात्माके भेदका साधक नहीं हो सकता। और विशेष्यमात्रके अभेदके ग्राहक जो 'तत्त्वमसि' इत्यादि प्रमाण हैं उनसे बाधित भी है। इसलिए दृष्टान्त तुम्हारा असिद्ध ही है और अनात्मभेदग्राहक प्रत्यक्षादिका बाधक भी कोई नहीं है एवं 'आत्मानात्मानौ मिथो भिन्नौ विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात्, द्रवकठिनवत्' अर्थात् आत्मा और अनात्मा परस्पर भिन्न हैं, विरुद्ध धर्मवाले होनेसे, जैसे कि द्रव और कठिन आपसमें विरुद्ध हैं, इस अनुमानसे भी अनात्मभेद सिद्ध है।

सिद्धान्ती—यद्यपि प्रत्यक्षादि अनात्मस्वरूपको विषय करते हैं, तथापि भेदको विषय नहीं कर सकते *, क्योंकि धर्मी, प्रतियोगी, और भेद इनका

* तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष–भेदमात्रको ग्रहण करता है या धर्मि-प्रतियोगी और भेद इन तीनोंको ग्रहण करता है। इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि धर्मी और प्रतियोगीके

योगिभेदानां ग्रहे क्रमयौगपद्यादिविकल्पप्राप्तौ अन्योन्याश्रयात्माश्रयानवस्थाप्राग्लोपाविनिगमत्वाद्यनेकदोषग्रासादिति वाच्यम् ।

ग्रहण क्रमसे होता है या एक साथ होता है इस तरहका विकल्प हो सकता है? इसमें अन्योन्याश्रय, आत्माश्रय, अनवस्था, प्राग्लोप, अविनिगमत्व इत्यादि अनेक दोष उपस्थित हो सकते हैं।

ज्ञानके बिना भेदज्ञान अशक्य है। दूसरे पक्षमें भी धर्मी, प्रतियोगी और भेद इनको प्रत्यक्ष क्रमसे ग्रहण करता है या एकसाथ। यदि क्रमसे ग्रहण करता है, तो प्रश्न यह उठता है कि प्रत्यक्ष, पहले भेदको ग्रहण करके बाद धर्मी और प्रतियोगीको ग्रहण करता है या विपरीतसे ग्रहण करता है इसमें भी यदि दूसरा पक्ष है कि एकसाथ ग्रहण करता है, तो फिर भी प्रश्न यह है कि 'दण्डी देवदत्तः' इस वाक्यके समान विशेषणविशेष्यतासे ग्रहण करता है, या तीनों अङ्गुलियोंके समान परस्पर भिन्नतासे ग्रहण करता है इत्यादि तर्कोंसे प्रत्यक्षकी भेदगोचरता नहीं बनती। अब धर्मी, प्रतियोगी और भेद इनको प्रत्यक्ष ग्रहण करता है, यह जो दूसरा पक्ष है वहाँपर क्रमपक्षमें भेदग्रहणपूर्वक धर्मी और प्रतियोगीका ग्रहण होता है, यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि भेदज्ञानके प्रति धर्म्यादि ज्ञानको कारणता है, इसलिए पूर्वोक्त भेदका ग्रहण होता है, तो भी यह विचार करना है कि क्या स्वरूपसे ही धर्म्यादिग्रहण भेदका निरूपक है या घटत्वादिरूपसे। अथवा धर्मित्वप्रतियोगित्वरूपसे इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि तादात्म्यभावको प्राप्त हुए जो जल और दुग्ध हैं, यद्यपि वे स्वरूपसे भासमान भी हैं, तो भी उनके भेदका ग्रहण नहीं होता, इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोग्यादिग्रहको भेदकी अपेक्षा रहती है, इसलिये परस्पर सापेक्ष होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है, इसी कारण तीसरा पक्ष भी अयोग्य है, क्योंकि भेदज्ञानके अधीन ही प्रतियोगीज्ञान होता है। धर्मीसे भिन्न भेदका निरूपक ही, तो प्रतियोगी है।। इसी प्रकार धर्मीज्ञान भी भेदज्ञानपूर्वक ही समझना चाहिए। धर्मीज्ञानाधीन भेदज्ञान होता है, यह बात प्रसिद्ध है, फिर क्यों न अन्योन्याश्रय हुआ, और भी देखो क्या भेद भिन्न धर्मीमें रहता है अथवा अभिन्नमें। अभिन्नमें तो रह नहीं सकता, क्योंकि वहाँ पर भेदग्राहकमें भ्रमत्व-प्रसक्ति आती है (अर्थात् भेदके अनधिकरणका नाम अभिन्न है तब यदि भेदका ग्रहण करे, तो वह ज्ञान भ्रमरूप क्यों नहीं)। रहा पहला पक्ष कि भिन्न धर्मीमें भेदका रहना, इसमें प्रष्टव्य है कि अपनेसे भिन्न धर्मीमें स्वयं भेद रहता है या भेदान्तरसे भिन्न हुए धर्मीमें भेद रहता है। इसमें भी प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माश्रय दोष आता है। यदि दूसरा पक्ष मानो, तो वह भी अभिन्न धर्मीमें रहता है या भिन्न धर्मीमें ऐसे विकल्पमें प्रथम पक्षमें तो भेद कल्पित ठहरता है। द्वितीय पक्षमें आत्माश्रय दोष आता है यदि इस दोषके परिहारके लिए तृतीय भेदका स्वीकार करो, तो चक्रक दोष आता है। चौथा भेद मानो तो अनवस्था होती है, इसी तरहके प्रागलोप और विनिगमक दोष भी हैं, विस्तारके भयसे वे नहीं लिखे गये।

अतिरिक्तभेदागोचरत्वेऽपि स्वरूपभेदगोचरत्वस्य दुरपह्नवत्वात्, न च स्वरूपं भिन्नमिति प्रतीत्यनुपपत्तिः 'राहोः शिरः आत्मनश्चैतन्यम्' इतिवत् उपपत्तेः ।

न च भेदस्वरूपशब्दयोः पर्य्यायत्वापत्तिः, स्वव्यवहारे इतरसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाभ्यां विशेषात् । न च अभेदे तदनुपपत्तिः, एकस्मिन्नपि देवदत्ते पितृत्वादिव्यवहारार्थं पुत्राद्यपेक्षादर्शनात् । न च प्राप्ताप्राप्तविवेकेन सापेक्षत्वमेव भेदोऽस्त्विति वाच्यम्, तस्यापि स्वरूपानतिरेकात् । न च स्वरूपाद् यस्य भेदस्तस्य निःस्वरूपत्वापत्तिः; अन्यथा स्वरूपमेव अखण्ड-

---

वादी—अतिरिक्त भेदका विषय न होनेपर भी स्वरूपभेदको विषय करना तो अनिवार्य ही है।

सिद्धान्ती—स्वरूप भिन्न है, यह प्रतीति कैसे हो सकती है।

वादी—जैसे कि 'राहुका शिर' 'आत्माका चैतन्य', यह प्रतीति होती है ऐसे ही 'स्वरूप भिन्न है' यह प्रतीति भी हो सकती है।

सिद्धान्ती—ऐसा माननेसे भेद और स्वरूप ये दोनों पर्यायवाचक हो जायँगे।

पूर्व०—नहीं होंगे, क्योंकि अपने व्यवहार में भेद प्रतियोगिसापेक्ष होता है और स्वरूप निरपेक्ष होता है, यह दोनोंमें विशेषता है।

सिद्धान्ती—यदि स्वरूप और भेदकी एकता मानी जाय, तो सापेक्षत्व और निरपेक्षत्व की अनुपपत्ति होगी।

पूर्व०—एक ही देवदत्तमें पितृत्वादि-व्यवहारके लिए पुत्रादिकी अपेक्षा देखनेमें आती है, इसलिए कुछ अनुपपत्ति नहीं है।

सिद्धान्ती—[स्वरूपके निरपेक्ष होनेपर भी भेदशब्दकी जब स्वरूपमें प्रवृत्ति होगी, तो दूसरेकी अपेक्षा अवश्य रहेगी] तब तो प्राप्त और अप्राप्त विवेकसे सापेक्षत्वको ही भेद मान लिया जाय और स्वरूप को भेद न माना जाय तो क्या हानि है?

पूर्व०—सापेक्ष भी तो स्वरूपसे भिन्न नहीं है, फिर केवल भेदशब्दसे वाच्य होनेसे वह स्वरूपसे पृथक् कैसे कहा जाय?

सिद्धान्ती—स्वरूपसे जिसका भेद होगा, वह निःस्वरूप ठहरेगा, अन्यथा स्वरूप ही अखण्ड (एकरस) रहेगा।

मिति वाच्यम्, घटात् घटस्य भेदेऽपि अघटत्वादर्शनात्।

न च घटात् एकस्मात् घटान्तरे किञ्चित् वैधर्म्यमस्त्येवेति वाच्यम्, स्थितस्याऽपि तस्य उक्तदोषेण भेदत्वानङ्गीकारात्। न च वैधर्म्ये सत्येव स्वरूपभेद इति वाच्यम्, अनात्मस्वरूपाणामपि वैधर्म्यव्याप्तत्वात्।

यत्तु कैश्चिदुक्तं यथायथं त्रितयमेव भेदः—यथा घटादौ स्वरूपमन्योन्याभावो वैधर्म्यं च, सामान्यादौ च द्वयमेव, वैधर्म्याभावात्; अभावे स्वरूपमेव, इतरासम्भवादिति। तत् न, स्वरूपभेदस्य आवश्यकत्वात् इतरयोश्च व्यभिचारात् भेदव्यवहाराप्रयोजकत्वेन अङ्गीकारवैयर्थ्यात् एकाकारव्यवहारस्य च एकरूपविषयसाध्यत्वनियमात्। न च स्वरूपभेदपक्षे स्वस्मादपि

पूर्व०—एक घटसे दूसरे घटका भेद होनेपर भी उसमें अघटत्व नहीं देखा जाता।

सि०—एक घटसे दूसरे घटमें कुछ वैधर्म्य तो है ही।

पूर्व०—यद्यपि वैधर्म्य कुछ है, तो भी पूर्वोक्त (यहाँपर धर्मी, प्रतियोगी और भेदका ग्रह एककालमें होता है या भिन्नकालमें होता है, इत्यादि दोष कह आये हैं उन) दोषोंसे भेदत्वका अङ्गीकार नहीं है।

सि०—वैधर्म्य होनेपर स्वरूपभेद होता है।

पूर्व०—नहीं, क्योंकि अनात्मस्वरूप वैधर्म्यसे व्याप्त है। जो किन्हीं आचार्योंने यह कहा है कि यथा सम्भव तीनों भेद हैं, उनमें से कहींपर एक, कहींपर दो और कहींपर तीनों भेद माने जाते हैं, जैसे कि घटादिमें स्वरूप, अन्योन्याभाव और वैधर्म्य ये तीनों हैं, सामान्यादिमें दो ही हैं, वहाँ वैधर्म्य नहीं रहता और अभावमें एक स्वरूप भेद ही रहता है और नहीं रहते हैं इत्यादि। परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनमें स्वरूपभेद ही आवश्यक है। और तो व्यभिचार होनेके कारण भेदव्यवहारके प्रयोजक नहीं हैं। इसलिए उन्हें भेदव्यवहारका प्रयोजक मानना व्यर्थ है, [क्योंकि जैसे एकाकार जो 'अयं पटः अयं पटः' व्यवहार है उसमें अनुगत पटत्व जाति ही प्रयोजक (कारण) है, अनुगत न होनेसे, व्यक्ति प्रयोजक नहीं है। अन्यथा जातिकी सिद्धि ही नहीं होगी, क्योंकि अनुगत व्यवहारमें अनुगत ही प्रयोजक होता है, यह नियम है, ऐसे ही स्वरूपभेद व्यवहारका जो अनुगत विषय है, उसका सम्भव होनेपर

स्वस्य भेदः स्यात् इति वाच्यम्, स्वस्य प्रतियोगिकोटिनिवेशे अन्यस्य धर्मिणो विरहात्, धर्मिकोटिनिवेशे वा प्रतियोगिनोऽभावात्। न च भेद-स्वरूपयोः परस्परान्तर्भावेन अन्यतरपरिशेषापत्तिः, भेदस्य स्वरूपानतिरेकात्।

न च स्वरूपभेदः किं भिन्ने भेदव्यवहारप्रयोजको अभिन्ने वा? इति विकल्पावकाशः, उपस्थितवस्तुमात्रे धर्मिप्रतियोगिज्ञानापेक्षानपेक्षाभ्यां भेदा-भेदव्यवहारयोर्जायमानत्वात्।

ननु अज्ञानकार्य्यत्वं प्रपञ्चस्य पूर्वमुक्तम्, तत्कथं प्रत्यक्षाद्यनुरोधेन

अननुगत जो व्यवहारके विषय वैधर्म्यादि हैं वे भेदव्यवहारके प्रयोजक क्यों माने जायँ।]

सिद्धान्ती—स्वरूप ही भेद है, इस पक्षमें अपनेसे अपना भेद हो जायगा।

पूर्व०—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूपके प्रतियोगिकोटिमें मिल जानेपर दूसरा कोई धर्मी ही नहीं रहेगा और स्वरूपके धर्मिकोटिमें प्रविष्ट होनेपर प्रतियोगी नहीं रहेगा।

सिद्धा०—भेद और स्वरूपका परस्परमें अन्तर्भाव होनेसे एक ही शेष रह जायगा।

पूर्व०—भेद स्वरूपसे भिन्न नहीं है।

सिद्धा०—तब तो स्वरूपभेद क्या भिन्नमें भेदव्यवहारका प्रयोजक है या अभिन्नमें? इस प्रकारके विकल्पका अवकाश हो जायगा।

पूर्व०—उपस्थित वस्तुमात्रमें धर्मी और प्रतियोगीके ज्ञानकी अपेक्षा और अनपेक्षासे भेद और अभेदका व्यवहार होता है, इसलिए कुछ दोष नहीं है।

सिद्धान्ती—पहले प्रपञ्च अज्ञानका कार्य कहा गया है, फिर प्रत्यक्षादिके अनुरोधसे भेदशङ्का कैसे?

पूर्व०—यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि प्रपञ्च अज्ञानका कार्य है, यह सिद्ध हो जाय, तो शुक्तिरजतके समान प्रपञ्च मिथ्या है, यह सिद्ध हो जायगा? परन्तु प्रपञ्च अज्ञानका कार्य है यह सिद्ध नहीं हुआ है, क्योंकि प्रपञ्च ब्रह्मका कार्य है, ऐसा श्रुतिमें बहुत जगह कहा गया है (अर्थात् जब कि प्रपञ्च ब्रह्मका कार्य है,

भेदशङ्का इति चेत्, नः तस्यैव असिद्धेर्ब्रह्मकार्य्यत्वस्य बहुशः श्रवणात् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः' 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा एव-मेतस्माद् आत्मनः सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्व एते आत्मानो व्युचरन्ति' इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'जन्माद्यस्य यतः' इति न्यायाच्च ।

ननु अज्ञानकार्य्यत्वमपि बहुषु श्रूयते, 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' 'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'नासदासीन्नो सदासीत्तम आसीत्' इत्यादिश्रुतिभ्यः 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इति न्यायाच्च। एवं तर्हि श्रुतीनां परस्परं

तो ब्रह्मकी सत्यतासे कार्य भी सत्य ही हुआ, तब तो सत्यप्रतियोगिक भेदके सत्य होनेसे प्रत्यक्षादिविषय होना युक्त है। अतः प्रपञ्चभेद आत्मामें प्राप्त हुआ] अब उन श्रुतियोंको वादी दिखाता है, जिनसे प्रपञ्च ब्रह्मकार्य सिद्ध होता है—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे प्रियदर्शन, यह दृश्यमान जगत् पहले सत्रूप ही था) 'यतो वा०' (जिस आत्मासे ये सब प्राणी प्रादुर्भूत होते हैं)—'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा' (जैसे कि एक ही अग्निसे छोटी २ चिनगारियाँ निकलती हैं ऐसे ही इस आत्मासे सम्पूर्ण देवता, सब लोक, सब आत्मा निर्गत होते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रपञ्चमें ब्रह्मकार्यत्व सिद्ध होता है और 'जन्माद्यस्य यतः' (जिस आत्मासे इस विश्वके जन्म, स्थिति और लय होते हैं) इस न्यायसे भी ब्रह्मकार्यत्व सिद्ध होता है।

सिद्धान्ती—बहुत श्रुतियोंमें प्रपञ्च अज्ञानका कार्य है, यह भी तो सुना गया है, जैसे कि 'मृत्युनैवेदमावृतामसीत्' यहांपर मृत्युशब्दसे साभास अज्ञानका ग्रहण है। इसका यह अर्थ है—यह दृश्यमान जगत् साभास अज्ञानसे ढका हुआ था 'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्' (यह सम्पूर्ण जगत् पहले अव्याकृतरूप ही था) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ईश्वर मायासे अनेकरूप प्रतीत होता है) 'नासदासीन्नो सदासीत्' (पहले न तो सत् था न असत् था, किन्तु अज्ञान ही था।) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रपञ्च अज्ञानकार्य जाना जाता है और 'मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (यह सम्पूर्ण अप्रकट होनेके कारण पहले मायामात्र ही था) इस न्यायसे भी यही जाना जाता है। अब यहांपर

विरोधात् न उभयमपि कारणस्तु। किं तर्हि जगत्कारणमिति चेत्, यथायोग्यं परमाण्वादिकमेव। तस्मात् अनात्मभेदे प्रत्यक्षादिसिद्धे जागरूके कथमद्वैतसिद्धिः ? तदयं संग्रहः—

आत्माऽभेदप्रमित्यापि नाऽद्वैतं ते प्रसिद्ध्यति।
अनात्मभेदसंसिद्धेः प्रत्यक्षादेः प्रमाणतः॥

मैवं श्रुत्यभिप्रायापरिज्ञानात्, नहि तत्त्वमसि इत्यादिश्रुत्या अनात्मानं पृथक् स्थापयित्वा शुद्धांशयोः अभेदो बोध्यते इति श्रुत्यभप्रायः। किन्तु प्रत्यक्चैतन्ये कूटस्थे जागराद्यवस्थात्रयं कर्त्तृत्वाद्यनर्थजातं च व्यभिचारि सर्वं तत्रैव अनुगते साक्षिणि अध्यस्तमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदतिरेकेण तत् स्वरूपं नास्तीति निश्चित्य शुद्धेन प्रत्यगात्मना ब्रह्मणोऽभेदशिद्ध्यर्थं ब्रह्मणि अपि जगत्कर्त्तृत्वपरोक्षत्वादि आकाशादिकं च जगज्जातमननुगतम्।

बीचमें ही तीसरा वादी कहता है इस दशामें श्रुतियोंमें परस्पर विरोध होनेसे ब्रह्म और अज्ञान ये दोनों प्रपञ्चके कारण नहीं होने चाहियें।

प्रश्न—तो फिर जगत्का कारण क्या है ?

उत्तर—परमाणु आदि जगत्के कारण ठीक हो सकते हैं (अर्थात् द्व्यणुक त्रसरेणु ये सब महत्पर्यन्त अवयववाले हैं, परमाणु निरवयव हैं, अतएव सत्य भी है उसका कार्यरूप प्रपञ्च भी सत्य है) इसलिए अनात्मभेदके प्रत्यक्षसिद्ध होनेपर अद्वैतकी सिद्धि कैसे हो सकती है। यह संग्रहश्लोक है—'आत्माऽभेदप्र०' (आत्माके अभेदज्ञानसे भी तुम्हारा अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनात्मभेद सिद्ध हो चुका है।)

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, श्रुतिके अभिप्रायको न जाननेसे तुमको यह शङ्का हुई है—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्य अनात्माको पृथक् करके केवल शुद्धांशोंका अभेदबोधन करते हैं, यह श्रुतिका आशय नहीं है, किन्तु कूटस्थ (निर्विकार) प्रत्यक् चैतन्यमें जागरादि तीनों अवस्थाएँ और कर्तृत्वादि अनर्थसमूह अध्यस्त हैं और भी सब व्यभिचारी वस्तुएँ उसी अनुगत साक्षीमें अध्यस्त हैं, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे उस साक्षिचेतनसे भिन्न अनात्मवस्तुका कुछ स्वरूप नहीं है, ऐसा निश्चय करके शुद्धान्तःकरणवाला पुरुष विचार करता है और शुद्ध प्रत्यगात्माके साथ ब्रह्मका अभेद सिद्ध करनेके लिए जगत्कर्तृत्व, परोक्षत्व

अनुगते तस्मिन् सच्चिदात्मनि अध्यारोपितमसद्भ्रान्त्यैव प्रतिपन्नमिति अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अध्यारोपापवादन्यायमाश्रित्य प्रवृत्तसृष्टिवाक्यसमनन्तरप्रवृत्तेन 'नेति नेति' इत्यादिवाक्येन च अवधारयति ।

ततः शुद्धयोस्तत्त्वम्पदार्थयोर्लक्ष्यांशयोर्निरस्तानात्मसम्बन्धयोर्भेदेऽभेदे वा प्रमाणमपश्यन् सन्दिहानः संसाररोगराजानुचरगर्भवासाद्यनेकरोगसमुद्भूतदुःखव्रातानुभवासादितोद्वेगः ब्रह्मलोकप्रभवमपि सुखं विषमिव मन्यमानः 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुत्या संसारदावानलप्रसूतसन्तापशमनामृताब्धिमात्मविद्यामजानानः परमजिज्ञासुः स्वरूपापरोक्षदर्शिनं परमकारुणिकं गुरुमुपसर्पति ।

तेन च शुद्धयोस्तत्त्वम्पदार्थयोः अभेदे तत्त्वमस्यादिवाक्येन नित्यनिर्दोषेण बोधिते स्वयमेव अद्वैततत्त्वं साक्षात्कृत्य स्वानन्दतृप्त आत्मारामो भवति, अतः श्रुत्यभिप्रायापरिज्ञानविजृम्भितमेतत् यदनात्मभेदेन अद्वैतक्षतिरिति ।

और आकाशादि समस्त व्यभिचारी जगत्समूह उस सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अध्यारोपित है । मिथ्याभ्रान्तिसे प्रतीत हुआ है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे अध्यारोप और अपवाद न्यायका आश्रय करके प्रवृत्त हुए जो सृष्टिवाक्य हैं, उनके बाद ही 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यसे भी जिज्ञासु पुरुष निर्णय कर लेता है ।

इसके बाद फिर वह पुरुष अनात्मसम्बन्धरहित और शुद्ध जो तत्त्वंपदार्थका लक्ष्यांश है, उसके भेद या अभेदमें प्रमाणको न देखता और सन्दिग्ध हुआ, संसाररूपी रोगराजके अनुचर जो गर्भवासादि अनेक रोग हैं, उनसे उत्पन्न हुए दुःख समूहोंके अनुभवसे उद्विग्न हुआ और ब्रह्मलोकोत्पन्न सुखोंको भी विषके समान मानता हुआ 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है) इस श्रुतिसे संसाररूपी दावानलसे उत्पन्न जो सन्ताप उसको शान्त करनेमें अमृतमय समुद्रके समान जो अध्यात्मविद्या है, उसको न जानता हुआ, परमजिज्ञासु पुरुष, स्वरूपको साक्षात् देखनेवाले परम करुणामूर्ति गुरुको प्राप्त होता है ।

वह गुरु भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि निर्दोष वाक्यसे शुद्ध तत्त्वंपदार्थका अभेद बोधन कराते हैं, तो स्वतः अद्वैत तत्त्वका साक्षात्कार करके स्वानन्द तृप्त आत्माराम हो जाता है । इसलिए अनात्मभेदसे अद्वैतकी क्षति कहना

यच्च स्वरूपं भेदः प्रत्यक्षादिगोचरः इति तत् अतितुच्छम्, प्रत्यक्षादेरसद्विषयत्वेन स्वरूपागोचरत्वात्; स्वरूपस्य भेदत्वानुपपत्तेश्च। कुत इति चेत्, शृणु—किं शुद्धं सर्वधर्मनिर्मुक्तं स्वरूपं भेदः किं वा विशिष्टम्?

आद्ये व्यवहारहेतुत्वमपि तस्य नास्तीति वक्तव्यम्, तथा च सर्वव्यवहारानास्पदं सर्वधर्मविनिर्मुक्तमस्थूलानण्वादिशास्त्रसिद्धं सदात्मकं ब्रह्मैव नामान्तरेण प्रत्यक्षादिगोचर इत्युक्तं स्यात्। न च तदपि उपपद्यते 'न चक्षुषा गृह्यते नैव वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' इत्यादि श्रुतिविरोधप्रसङ्गात्। द्वितीये विशेषणविशेष्योर्भेदे विशिष्टं स्वरूपान्तरं भेद इति वाच्यं

श्रुतिके अभिप्रायको न जाननेका फल है।

वादीने स्वरूप भेदको जो प्रत्यक्षादिका विषय कहा है, वह तो अतितुच्छ है, क्योंकि 'पराञ्चि खानि' इत्यादि श्रुतिने प्रत्यक्षादिको असद्विषय (अनात्मविषय) कहा है और स्वरूप तो फिर सत्‌रूप होनेसे आत्मरूपी है, इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाण स्वरूपको विषय नहीं कर सकते और स्वरूपमें भेदकी अनुपपत्ति भी है।

पूर्व०—स्वरूपमें भेदकी अनुपपत्ति क्यों है?

सिद्धान्ती—सुनो, क्या सर्व धर्मोंसे रहित शुद्धस्वरूपको भेद मानते हो या विशिष्ट स्वरूपको? प्रथम पक्षमें यह कहना है कि उसमें व्यवहारहेतुत्व भी नहीं है, तब तो समस्त व्यवहारका अनास्पद (अनधिकरण), समस्त धर्मोंसे रहित और अस्थूल अनणुरूपसे शास्त्रमें सिद्ध एक सदात्मक ब्रह्म ही नामान्तरसे (भेद नामसे) प्रत्यक्षादिका विषय है, यह कहना हुआ। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'न चक्षुषा गृह्यते नैव वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (उस आत्माका न चक्षुसे, न वाणीसे न, देवोंसे एवं न तपस्यासे और न कर्मसे ग्रहण हो सकता है) इत्यादि श्रुतिसे विरोध आता है। अब रहा दूसरा पक्ष—विशिष्टको भेद मानना, उसमें भी विशेषण और विशेष्यका भेद विशिष्टसे होनेपर विशिष्ट स्वरूपसे अन्य भेद कहना होगा। तब तो प्रश्न यह होता है कि विशेषण-विशेष्यका भेद विशिष्ट स्वरूप भेदका उपपादक है या विशिष्ट भेद ही है अथवा भेदान्तर (कोई और भेद) है। प्रथम पक्षमें आत्माश्रय दोष आता है। द्वितीय पक्षमें अन्योन्याश्रय दोष आता है और तृतीय पक्षमें (अर्थात् यदि विशेषणविशेष्यभेदके उपपादक तीसरे ही विशिष्ट भेदका स्वीकार करोगे

तथा च तत्रापि अन्यत् तत्रापि अन्यदिति सैव दुरुत्तराऽनवस्था। अभेदे वा विशिष्टस्वरूपासिद्धिः।

न वा विशिष्टं स्वरूपं प्रत्यक्षादिगोचरः, तस्यापि शुद्धवस्तुस्वरूपवन्निर्धर्मकत्वात्। नहि रूपादिविशिष्टे रूपादय सन्ति। न च विशिष्टं नाम किञ्चिद्वस्त्वस्ति विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धातिरिक्तस्य तस्य अननुभवात् तेषां च प्रत्येकसमुदायाभ्यां विशिष्टव्यवहाराजननात्। न च सम्बन्ध एव विशिष्टं विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धा इत्यत्र सम्बन्धेऽपि तद्व्यवहारादर्शनात्। विशेषणविशेष्ययोस्तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। न च वस्तुस्वरूपं भेद इति शङ्कितुमपि शक्यम्, तस्य विदारणात्मनोः भेदस्य वस्तुस्वरूपनाशरूपत्वात् नाशतत्प्रतियोगिनोः अभेदासम्भवात्, नहि पटविदारणं पटस्वरूपं वस्तुस्वरूपातिरिक्तस्य च भेदस्य तस्य निःस्वरूपस्य निराश्रयस्य असिद्धिरेव।

तो) चक्रकदोष है। चौथा पक्ष माननेमें वही दुरुत्तरा (जिसका कुछ उत्तर ही नहीं है) अनवस्था होगी और विशेषण विशेष्यका अभेद माननेमें विशिष्ट स्वरूपकी सिद्धि नहीं होगी।

एवं विशिष्ट स्वरूप भी प्रत्यक्षादिका विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि विशिष्ट भी शुद्ध वस्तुके स्वरूपके समान धर्मरहित है, क्या कहीं रूपादि विशिष्टमें भी रूपादि हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते। और विशिष्ट कोई वस्तु भी नहीं है, क्योंकि विशेषण, विशेष्य और इन दोनोंका सम्बन्ध बस इन तीन वस्तुओंसे भिन्न विशिष्टका अनुभव ही नहीं हो सकता। उनमें से भी प्रत्येकसे या समुदायसे विशिष्टका व्यवहार नहीं हो सकता।

पूर्व०—सम्बन्धको ही विशिष्ट मान लिया जाय, तो क्या हानि है?

सिद्धान्ती—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषण, विशेष्य और सम्बन्ध यहाँपर सम्बन्धमें विशिष्ट व्यवहार नहीं देखा जाता और विशेषण और विशेष्यमें विशिष्टप्रयुक्त व्यवहारका अभाव भी प्राप्त हो जायगा। बल्कि वस्तुका स्वरूप भेद है यह शङ्का ही अयुक्त है, क्योंकि (भिदिर्-विदारणे) धातुसे (भेदः) ऐसा रूप बना है, विदारणरूप जो भेद है, वह वस्तुस्वरूपका नाशरूप हुआ, इसलिए नाश और नाशका प्रतियोगी इन दोनोंका अभेद कैसे हो सकता है, क्योंकि पटका विदारण (फटना) पटस्वरूप नहीं हो सकता, अतः यत्किञ्चित् भी स्वरूप-रहित और निराश्रय वस्तु स्वरूपसे अतिरिक्त जो भेद

नहि भिन्न आश्रयो भवति, अन्यथा ध्वस्तोऽपि घटो जलाधारः स्यात्; अभिन्ने तु आश्रये भेदो विरोधात् एव न वर्त्तते ।

तस्मात् अलमनेन अनात्मविचारेण, सर्वथा प्रत्यक्षादेः आत्मानात्मभेदगोचरत्वं नास्तीति सिद्धम् ।

यदुक्तं जगत्कारणत्वविषयश्रुत्योः अज्ञानब्रह्मगोचरयोर्मिथो विरोध इति; तन्न,

ब्रह्माज्ञानात् जगज्जन्म ब्रह्मणोऽकारणत्वतः ।
अधिष्ठानत्वमात्रेण कारणं ब्रह्म गीयते ॥ ३८ ॥

दृश्यत्वाद्यनुमानसिद्धानिर्वचनीयस्य जगतः अनाद्यनिर्वचनीया अविद्यैव कारणम्; न ब्रह्म, तस्य कूटस्थस्य कार्य्यकारणविलक्षणत्वात्, 'तदेतद् ब्रह्माऽ-

---

उसकी सिद्धि हो नहीं सकती, क्योंकि भिन्न किसीका आश्रय ही नहीं होता। यदि ऐसा हो तो ध्वस्त (टूटा हुआ) घट भी जलका आधार होने लगेगा। और यदि अभिन्न आश्रय हो, तो विरोधसे ही भेद नहीं रह सकता। इससे इस अनात्मवस्तुका विचार नहीं करना चाहिये। प्रत्यक्षादिका विषय आत्मा और अनात्माका भेद कदापि नहीं है, यह सिद्ध हुआ। पूर्वमें जो कहा है कि अज्ञान और ब्रह्मको विषय करनेवाली जगत्कारणत्वविषयक श्रुतियोंका आपसमें विरोध आवेगा (अर्थात् कोई श्रुति ब्रह्मको कारण बतलाती हैं और कोई अज्ञानको जगत्कारण बतलाती है, इस दशामें आपसमें विरोध होगा), वह ठीक नहीं है।

जगत्की उत्पत्तिके प्रति ब्रह्म कारण नहीं है, किन्तु ब्रह्मके अज्ञानसे जगत्का जन्म होता है, ब्रह्म तो सिर्फ अधिष्ठानमात्र होनेसे कारण कहलाता है ॥३८॥

दृश्यत्वादिहेतुक अनुमानसे सिद्ध यह विचित्र जगत् अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) है, अतः अनादि अनिर्वचनीय अविद्या ही इस जगत्की कारण हो सकती है (अर्थात् अनिर्वचनीय अज्ञान ही अनिर्वचनीय जगत्का उपादान कारण हो सकता है, क्योंकि कार्य और कारण दोनों एकसे होते हैं)। कूटस्थ (निर्विकार) ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह कार्यकारणसे विलक्षण है। इसी बातको श्रुति भी कहती है—'तदेतद् ब्रह्माऽपूर्वमिति' सो यह अज्ञानादिका विषय जगत् ब्रह्मरूप ही है (अर्थात् जगत्का कोई रूपान्तर नहीं है) और

पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' इति श्रुतेः।

कथं तर्हि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं श्रुतौ प्रसिद्धम्? जगत्कारणाधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारात्; ब्रह्मकारणश्रुतेरन्यार्थत्वाच्च—'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेः अद्वितीयत्वं तावद् ब्रह्मणः सिद्धम्, तत् कथं सम्भाव्यतामिति कार्य्य-कारणयोः अभेदस्तावल्लोकप्रसिद्धः; ब्रह्माऽपि जगत्कारणमिति कथमसम्भा-वना स्यादिति अद्वितीये सम्भावनाबुद्धिमात्रप्रयोजनत्वात् तस्याः। न च अज्ञानमपि जगत्कारणं श्रुत्या विवक्षितम्, तस्य भ्रमनिमित्तमात्रत्वे-

---

ब्रह्म 'अपूर्वम्' कार्य भिन्न है 'अनपरम्' कारण भिन्न है 'अनन्तरम्' सामान्य भी नहीं है 'अबाह्यम्' विशेष भी नहीं है और 'अयमात्मा' यह आत्मा ब्रह्म है, सबका अनुभव—प्रत्यक्ष ज्ञान है।

पूर्व०—यदि ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, तो वह श्रुतिमें जगत्-कारण कैसे कहा गया है?

सिद्धान्ती—जगत्का उपादान कारण जो अज्ञान है, उसका अधिष्ठान होनेसे ब्रह्म केवल उपचारमात्रसे कारण कहा गया है। वास्तवमें ब्रह्म कारण नहीं है।

पूर्व०—उपचरित कारणको श्रुति निष्फल क्यों कहती है?

सिद्धा०—ब्रह्मको कारण कहनेवाली श्रुतिका और कुछ अर्थ हैं, उसीको दिखाते हैं—'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिसे ब्रह्ममें अद्वितीयत्वकी सिद्धि होती है। तो फिर ब्रह्ममें कारणताकी सम्भावना कैसे हो सकती है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जाता है कि लोकमें कार्यकारणका अभेद प्रसिद्ध है, तब ब्रह्म जगत् का कारण है यह असम्भावना भी कैसे हो सकती है? इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्ममें सम्भावनाबुद्धिमात्र ही श्रुतिका प्रयोजन है।

पूर्व०—समस्त वेदान्तोंका समन्वय ब्रह्ममें है, ऐसी दशामें ही अज्ञानको कारण माननेमें सिद्धान्तकी हानि क्यों नहीं होती?

सिद्धा०—अज्ञान जगत्का कारण है, यह भी श्रुतिको विवक्षित नहीं है।

पूर्व०—फिर श्रुतिने कहा क्यों?

सिद्धा०—श्रुतिने अज्ञानको जो जगत्का कारण कहा है, वह सिर्फ भ्रमके निमित्तमात्र होनेसे कहा है। [तात्पर्य यह है कि नाना प्रकार दुःखित्व और प्रकाश्यत्व

नैव उक्तत्वात् कार्य्यकारणवादस्य वेदान्तबहिर्भूतत्वात् विवर्त्तस्यैव वेदान्तवादत्वात् ।

किं जगतः कारणमिति पृष्टे प्राप्ताप्रतिभानिवृत्तिमात्रप्रयोजनतया अज्ञानं कारणमिति अभिहितत्वाच्च ।

ननु इदमज्ञानं कार्य्यमकार्यं वा ? आद्ये किमस्य कारणम् अज्ञानं ब्रह्म वा ? नाद्यः, तेन च तज्जनने आत्माश्रयात्, अज्ञानान्तराऽनुसरणे तु अनवस्थादिप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, ब्रह्मणः अकारणत्वात् अनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च ।

रूपसे अखण्डानन्द चिदात्माका प्रतीत होना ही भ्रम है। इसमें निमित्त कारण सिर्फ अज्ञान ही हो सकता है इसलिए अज्ञान कारण माना गया है। वास्तवमें यह कार्यकारणभाव कल्पित होनेके कारण वेदान्तशास्त्रसे बाहर है।

[पूर्व०—तो फिर वेदान्तका वाद क्या है ?]

सिद्धा०—वेदान्तका विवर्त्तवाद है। विवर्तका लक्षण यह है कि 'एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य पूर्वविपरीतासत्यानेकरूपावभासो विवर्त्तः' अर्थात् अपने रूपसे च्युत न हुए, एक अद्वितीय वस्तुकी पूर्व दशासे विरुद्ध असत्य अनेक रूपसे जो प्रतीति है, वही विवर्त्त कहलाता है। जैसे कि रज्जुका विवर्त्त सर्प है।

[पूर्व०—ऐसी कल्पना करनेसे तो 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादि वाक्योंमें स्थित प्रकृतिशब्दसे विरोध आता है।]

सिद्धा०—कुछ विरोध नहीं आता, क्योंकि जगत्का कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न करनेपर प्राप्त हुई अप्रतिभा (बुद्धिकी अस्फूर्ति) की केवल निवृत्ति प्रयोजन होनेसे अज्ञान कारण बतलाया गया है।

पूर्व०—यह अज्ञान कार्य है या कार्यसे भिन्न है ? यदि पहला पक्ष है, तो प्रश्न यह होता है कि इसका कारण कौन है ? अज्ञान या ब्रह्म ? यदि अज्ञानको अज्ञानका कारण कहो, तो आत्माश्रय दोष होगा। कदाचित् अज्ञानान्तर (दूसरा अज्ञान) मानो, तो अनवस्था होगी। अत एव ब्रह्म भी अज्ञानका कारण नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अकारण है। यदि उसको कारण मान भी लें, तो मोक्ष नहीं होगा। [अर्थात् संसारका कारण जो अज्ञान है,

द्वितीये तु अनादिभावस्याऽनिवृत्तिप्रसङ्गो ब्रह्मवत् । न च कल्पितत्वाकल्पितत्वाभ्यां विशेषः, कल्पनासामग्र्यभावेन कल्पनानुपपत्तेः, न च अनादिरयमध्यासः, अध्यासत्वासिद्धेः । विद्याबाध्यत्वात् तत्सिद्धिरिति चेत्, न; अन्योन्याश्रयात् । न च एते दोषा वस्तुनो वस्तुत्वापहारकाः, कल्पि-

उसकी सामग्री विद्यमान रही, तो उससे अज्ञानकी उत्पत्ति अवश्य होगी, फिर मोक्ष कैसे होगा ?

यदि दूसरा पक्ष कहो अर्थात् अज्ञानको कार्यसे भिन्न मानो, तो ब्रह्मकी तरह अनादि भाव अज्ञानकी कभी निवृत्ति ही न होगी । कदाचित् यह कहो कि कल्पित और अकल्पित होनेसे दोनोंमें विशेषता है (अर्थात् ब्रह्म अकल्पित है और अज्ञान कल्पित है इससे ब्रह्म और अज्ञानमें भेद है) यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कल्पनाकी सामग्रीका अभाव है इससे यह कल्पना अयुक्त है [अर्थात् सादृश्य, पूर्वसंस्कार और दोष ये तीन कल्पनाकी सामग्री हैं परन्तु यहाँपर अज्ञानकी कल्पनामें इनमें से कोई भी सामग्री नहीं है और यदि अज्ञान कल्पित है तो अपनेसे ही कल्पित है, एतावता अपना अधिष्ठान स्वयं होगा । इसी प्रकार निरवयव होनेसे आत्मा और अज्ञानका सादृश्य भी नहीं है । ऐसे ही पूर्वसंस्कार और कोई दोष भी नहीं है, जिससे कल्पना हो सके । पूर्वसंस्कार और दोष ये दोनों अज्ञानपूर्वक हैं अज्ञानसे पहले इनकी असिद्धि है, इसलिए कल्पनाकी कोई सामग्री नहीं है ।

सिद्धा०—सादि अध्यासमें तो सामग्रीकी अपेक्षा रहती है, परन्तु अज्ञानका अध्यास तो अनादि है उसमें सामग्री क्या करेगी ।]

पूर्व०—अज्ञानाध्यास भी अनादि नहीं है, क्योंकि अनादि माननेसे अध्यासकी ही सिद्धि नहीं होगी [अर्थात् अध्यास केवल बाधसे जाना जाता है । परन्तु अज्ञानमें कोई बाधक नहीं है, जिससे उसका अध्यास माना जाय]

सिद्धा०—अज्ञान भी तो विद्यासे बाधित होता है, फिर अध्यासकी असिद्धि कैसे ?

पूर्व०—[क्या विद्यासे निवर्त्य (दूर होनेवाला) बाध्य है या कल्पित होनेपर विद्यासे निवर्त्य बाध्य है, इसमें यदि पहला पक्ष

तस्य च अज्ञानस्य किमेते कुर्य्युः ? स्वत एव तस्य वस्तुत्वाभावात्। अत एव उक्तमलङ्कारो ह्ययमस्माकं यद्युक्तिप्रमाणाभ्यां दुर्घटत्वम्, सुघटत्वे कल्पितत्वं दुर्घटं भवेदिति वाच्यम्, कल्पितत्वस्य एव अद्याऽपि असिद्धत्वात्; धर्मिण एव असिद्धेः।

ननु केयं सिद्धिः उत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा ? नाद्यः, अनादेस्तदभावस्येष्टत्वात्। न द्वितीयः, साक्षिसिद्धत्वेन तदभावात्; मैवम्, अज्ञानस्य साक्षिसिद्धत्वे

मानोगे, तब तो प्रथम ज्ञान द्वितीय ज्ञानसे निवर्त्त्य होता है, वह भी बाध्य कहलायेगा] रहा दूसरा पक्ष, उसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। [कल्पितत्वकी सिद्धि होनेपर ज्ञानबाध्यत्वकी सिद्धि होगी और ज्ञानबाध्यत्वकी सिद्धि होनेपर कल्पितत्वकी सिद्धि होगी यही अन्योन्याश्रय दोष आता है।]

सिद्धा०—जो दोष बतलाये गये हैं, वे सब वस्तुके वस्तुत्व धर्मके नाशक हैं, परन्तु अज्ञान तो कोई वस्तु ही नहीं है सिर्फ कल्पित है अतः ये दोष उसका क्या कर सकते हैं ? अज्ञान तो स्वतः वस्तु नहीं है, इसीलिए ग्रन्थकारोंने कहा है कि 'अलङ्कारो ह्ययमस्माकम्' यह तो हमारा भूषण है जो कि अज्ञान युक्ति और प्रमाणसे दुर्घट कहा जाता है। यदि सुघट होता 'अर्थात् युक्ति-प्रमाणसे अज्ञान सिद्ध होता तो उसका कल्पित होना न बनता' इसलिए अज्ञानका दुर्घट होना हमारा भूषण है दूषण नहीं है।

पूर्व०—धर्मी जो अज्ञान है, उसकी यदि सिद्धि होती, तो कल्पितत्वकीसिद्धि होती। परन्तु अब तक उसकी सिद्धि नहीं हुई है और 'अहम् अज्ञः' यह प्रतीति भी अज्ञानको विषय नहीं करती है, किन्तु ज्ञानाभावको विषय करती है।

सिद्धा०—तुमने अज्ञानकी असिद्धि बतलाई है, परन्तु असिद्धिज्ञान सिद्धिज्ञानके अधीन होता है। अर्थात् जब सिद्धिका ज्ञान होगा तब असिद्धिका ज्ञान होगा। अब बताओ, वह सिद्धि क्या चीज है ? उत्पत्ति है या ज्ञप्ति है। इनमें से प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनादि अज्ञानकी उत्पत्तिका न होना ही सबको इष्ट है। रहा दूसरा पक्ष, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान साक्षिसिद्ध है, इससे उसमें ज्ञप्तित्वका अभाव है [सारांश यह है कि 'अहमज्ञः' यह प्रतीति उभयसिद्ध है, परन्तु वह स्वप्रकाशत्वकी महिमासे तो है नहीं, क्योंकि अज्ञान जड़ है और न किसी प्रमाणसे इस प्रतीतिकी सिद्धि है, न अनुमानादिसे सिद्धि है कदाचित् कहो

साक्षिणः असङ्गत्वभङ्गप्रसङ्गात्, सम्बन्धं विना च अप्रकाशकत्वात्। न च पारमार्थिकसम्बन्धाभावेऽपि कल्पितः सम्बन्धः अस्त्येवेति वाच्यम्,

कि प्रत्यक्षसे इसकी सिद्धि है तो प्रश्न यह उठता है कि यह बाह्येन्द्रियसे जन्य है या मनोजन्य है। बाह्येन्द्रियोंकी तो शरीरके भीतर प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इसलिए प्रथम पक्ष तो गया, अब रहा दूसरा पक्ष कि प्रतीतिको मनोजन्य मानना यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि (अहम् अज्ञः) इसमें केवल अज्ञानका तो स्फुरण होता नहीं किन्तु अहम् अवच्छिन्न अज्ञानका स्फुरण होता है। अब प्रष्टव्य यह है कि अहम् जो विशेषण अंश है, वह शुद्ध आत्मा है या अहंकारविशिष्ट है अथवा अहंकारोपाधिक है ? इन तीन पक्षोंमें से पहला पक्ष तो बनता ही नहीं, क्योंकि शुद्ध आत्मा स्वयंप्रकाशरूप है। दूसरे पक्षमें अहंकारस्वरूप मन भी मनोवेद्य हो जायगा, तब तो अतीन्द्रियत्वकी हानि हुई और आत्माश्रय दोष भी हुआ और तीसरे पक्षमें अहंकारके आकारकी प्रतीति न होगी, क्योंकि उपाधिके तटस्थ होनेसे विषयकोटिमें उसका प्रवेश नहीं होगा और सुषुप्तिमें मनके न होनेपर भी अज्ञान प्रतीत होता है। इस दशामें मनको अज्ञानकी प्रतीतिका करण (साधन) मानना अनुपपन्न है, इसलिए परिशेषसे अज्ञान केवल साक्षिवेद्य ही है, एतावता जब कि धर्मी अज्ञानकी सिद्धि हुई तो असिद्धि कहाँ रही]।

पूर्व०—यदि अज्ञानको साक्षी से वेद्य मानें, तो साक्षी असङ्ग न रहेगा [अर्थात् साक्षी अपने सम्बन्धको प्रकाशित करता है या असम्बन्धको ? इसमें प्रथम पक्षमें तो असङ्गत्वकी हानि है और दूसरे पक्षमें सम्बन्धके बिना प्रकाशकत्व नहीं बनता, क्योंकि लोकमें भी प्रदीपादिमें सम्बन्ध रहनेपर ही प्रकाशता देखी जाती है]।

सिद्धा०—यद्यपि साक्षीका अज्ञानके साथ पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं है, तथापि कल्पित सम्बन्ध तो है।

पूर्व०—[अच्छा, वह सम्बन्धकी कल्पना भी सादि है या अनादि ? यदि उसे सादि मानो तो कल्पक कौन है, सम्बन्ध और सम्बन्धीसे अन्य कोई है या सम्बन्ध और सम्बन्धी ही कल्पक हैं। इसमें पहला पक्ष तो नहीं हो सकता, क्योंकि संयोगका उपादान सम्बन्धीसे अन्य सम्बन्ध नहीं देखा

सम्बन्धसम्बन्धिनामन्यतमस्य कल्पकत्वे आत्माश्रयान्योन्याश्रयकूटस्थत्वहान्यसङ्गत्वक्षतिमोक्षाभावप्रसङ्गानां यथायथं प्राप्तेः ।

न च अविद्याध्यासवत् तत्सम्बन्धाध्यासस्याऽपि अनादित्वेन अविद्यादिहेत्वजन्यत्वेऽपि तत्तन्त्रतया तन्निवृत्तौ निवृत्तिः स्यात् इति वाच्यम्, तस्य अनादेरुत्पत्तौ निरपेक्षस्य साक्ष्यधीनज्ञानस्य अज्ञानानपेक्षतया तत्तन्त्रत्वानुपपत्तेः । न च सम्बन्धिज्ञानाधीनं सम्बन्धज्ञानं लोके दृष्टमिति वाच्यम्, तस्य प्रत्यक्षादिसिद्धस्य तत्सापेक्षत्वेऽपि इह सम्बन्धिनोऽपि अज्ञानस्य साक्षिसम्बन्धसापेक्षस्फूर्त्तिकत्वेन वैपरीत्यात् । न च सम्बन्धः स्वस्थित्यर्थं सम्बन्धिनमपेक्षते इति वाच्यम्, लब्धसत्तास्फूर्त्तिकस्यैव स्थित्य-

---

गया । यदि दूसरा पक्ष है तो सम्बन्ध और सम्बन्धी इन दोनोंमें से एकको भी कल्पक माननेमें आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, कूटस्थत्वहानि, असङ्गत्वहानि, मोक्षाभाव ये दोष आ पड़ते हैं ।

सिद्धा०—पूर्वोक्त दोषोंके परिहारके लिए अविद्याध्यासकी तरह अविद्यासम्बन्धका अध्यास भी अनादि है, अतः वह सम्बन्धाध्यास अविद्यादि कारणसे अजन्य होनेपर भी अविद्याके अधीन रहता है, इसलिए अविद्याकी निवृत्ति होनेपर तत्सम्बन्धाध्यासकी भी निवृत्ति हो सकती है ।

पूर्व०—उत्पत्तिमें निरपेक्ष और साक्षीके अधीन ज्ञानके विषय उस अनादि सम्बन्धाध्यासको अज्ञानकी अपेक्षा नहीं है, अतएव सम्बन्धाध्यासका अज्ञानाधीन होना भी अनुपपन्न है ।

सिद्धा०—लोकमें सम्बन्धी ज्ञानके अधीन ही सम्बन्धज्ञान देखा गया है, इसलिए अज्ञानके अधीन होना युक्त ही है ।

पूर्व०—यद्यपि प्रत्यक्षादिसिद्ध वह अज्ञानसम्बन्ध अज्ञानसापेक्ष है, तथापि यहाँपर सम्बन्धी अज्ञानमें, साक्षीसम्बन्धके सापेक्षस्फूर्तिवाला होनेसे, विपरीतता है ।

सिद्धा०—सम्बन्ध अपनी स्थितिके लिए सम्बन्धीकी अपेक्षा अवश्य रखता है ।

पूर्व०—क्या सम्बन्ध सत्ताको पाये बिना ही केवल स्थितिमात्रके लिए

पेक्षणात्, हेत्वनपेक्षत्वे इतरानपेक्षस्थितिकत्वाच्च ।

न च अज्ञानस्य ग्रहप्रागभावरूपस्य ग्रहानुपलम्भादुपलम्भ इति वाच्यम्, नित्योपलम्भरूपस्य आत्मनोऽनुपलम्भानुपपत्तेः, भावरूपजगदुपादानस्य च अज्ञानस्य अभावरूपत्वानुपपत्तेश्च; तथा च अज्ञानस्यैव अभावात् कथं तत् जगत्कारणत्वेन उपन्यस्यते इति ।

मैवम् ,

प्रश्नस्य ज्ञानपूर्वकादाद्येपे प्रतियोगिधीः ।
अवश्यम्भाविनी पूर्वा विरोधः स्यादितोऽन्यथा ॥ ३९ ॥

सम्बन्धीकी अपेक्षा रखता है या सत्ताको पाकर ? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जो सत्ता स्फूर्तिको प्राप्त है, वही स्थितिकी अपेक्षा रख सकती है, अन्य नहीं, और दूसरे पक्षमें भी यह प्रश्न होता है कि सत्ताका लाभ हेतुसे होता है या हेतुनिरपेक्ष होता है, प्रथम पक्षमें तो अनादित्वकी हानि होगी और द्वितीय पक्षमें हेतुकी अपेक्षा न होनेपर इतरानपेक्ष स्थितिवाला ठहरा, क्योंकि आत्मामें ऐसा देखा गया है ।

यदि यह कहो कि ज्ञानका प्रागभाव ही अज्ञान है, इसलिए ज्ञानके अनुपलम्भसे ही अज्ञानका ग्रहण हो जाता है, तो यह भी ठीक नहीं है, हम पूछते हैं कि यहाँपर ग्रहशब्दसे वृत्तिको लेते हो या स्वरूपचैतन्यको लेते हो, इसमें तुम्हारा प्रथम पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि वृत्ति जड़ है वह मुख्य ग्रह (ज्ञान) नहीं हो सकती । यदि दूसरा पक्ष है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा नित्य उपलम्भस्वरूप है उसकी अनुपलम्भता नहीं हो सकती, और भावरूप जगत्का उपादान कारण जो अज्ञान है उसको अभावरूप मानना भी अयुक्त है । अतः जब कि अज्ञानकी ही सिद्धि नहीं है तो फिर जगत्के उपादानरूपसे उसका उपन्यास कैसे करते हो ?

सिद्धा०—ऐसा मत कहो ।

क्योंकि यह नियम है कि प्रश्न ज्ञानपूर्वक हुआ करता है, और अज्ञानके निषेधमें प्रतियोगीका (अज्ञानका) ज्ञान अवश्य ही पहले रहता है, नहीं तो विरोध आ पड़ेगा ॥ ३९ ॥

कथमज्ञानसिद्धिरिति वदन् प्रष्टव्यः—किमयमज्ञानस्वरूपविषयकः प्रश्नः किं वा तत्स्वरूपाऽऽक्षेपः, तत्स्वरूपसाधकप्रमाणप्रश्न एव वा अयम्? आद्ये अज्ञाते स्वरूपे प्रश्नानुपपत्तेः, प्रश्नात् पूर्वमज्ञानस्वरूपसिद्धेरवश्यम्भावात् तवैव अज्ञानस्वरूपं सिद्धमिति कोऽत्र प्रश्नः।

न च सामान्यज्ञानाद् विशेषजिज्ञासा युक्ता, उक्तदोषात्। न च आक्षेपो युक्तः, अभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वनियमेन अज्ञानस्वरूपसिद्धेः पूर्वमेव वृत्तत्वात्। न च भ्रमोपस्थितस्य अज्ञानस्य आक्षेपो न्याय्यः, यतः केन कुत्र भ्रम इति पृष्टे परोक्तशब्दाभासेन अज्ञानविषयक इत्येव उत्तरम्।

अज्ञानकी सिद्धि कैसे होती है, ऐसा कहनेवाले वादीसे पूछना चाहिए कि यह प्रश्न क्या अज्ञानस्वरूपके लिए है या अज्ञान-स्वरूपका निषेध है। अथवा अज्ञानके स्वरूपका बोधक प्रमाणविषयक है। इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूपके जाने बिना प्रश्न अनुपपन्न अनुचित है, अतः प्रश्नसे पूर्व अज्ञानस्वरूपकी सिद्धि अवश्य है, तब तो तुम्हारे प्रति स्वतः अज्ञानकी सिद्धि है, फिर इस विषयमें प्रश्न कैसा? [अर्थात् वाणीका व्यवहारविशेष प्रश्न कहलाता है और व्यवहार भी व्यवहारके योग्य वस्तुके ज्ञानसे साध्य होता है, इस दशामें व्यवहर्तव्य (व्यवहारयोग्य) अज्ञानका स्वरूप ठहरा, तो उसका ज्ञान अवश्य ही पूर्वमें रहा, तो अज्ञानस्वरूप सिद्ध हो गया, फिर उसके विषयमें प्रश्न वृथा है।]

पूर्व०—अज्ञानके सामान्यस्वरूपकी जिज्ञासासे यह प्रश्न नहीं है, किन्तु विशेषकी जिज्ञासासे यह प्रश्न किया गया है, अतः हमारा प्रश्न युक्त है।

सिद्धान्ती—तो भी प्रश्न व्यर्थ ही है, क्योंकि यदि तुमको अज्ञानके स्वरूपकी सिद्धि ही करनी है, तब तो वह सिद्धि सामान्यतः हो चुकी, फिर विशेष ज्ञानका क्या प्रयोजन है? अब रहा दूसरा पक्ष, वह यह कि स्वरूपाक्षेप करना, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभावज्ञान नियमसे प्रतियोगिज्ञानपूर्वक होता है, अतः अज्ञानस्वरूपकी सिद्धि पहले हो चुकी, तब तो आक्षेप वृथा रहा।

पूर्व०—भ्रमसे उपस्थित हुए अज्ञानका आक्षेप उचित ही है।

सिद्धा०—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कोई प्रश्न करे किससे किंविषयक भ्रम हुआ, तो यही उत्तर कहना होगा कि दूसरेसे कहे गये शब्दाभाससे अज्ञान-

तथा च भ्रमस्य स्वसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वात् अज्ञानविषयका-पराज्ञानस्वीकारे अनवस्था दुर्वारा। हन्त! तर्हि एकाज्ञानासहिष्णुतया आक्षेपं प्रयुञ्जानस्य अनेकाज्ञानस्वीकरणे मदोन्मत्तस्य स्वव्याघातगौरव-वैयर्थ्यादिदोषमपश्यतः स्वपक्षनिर्वाहो व्याहत एव।

न च एवं क्वचित् तवाऽपि प्रश्नाक्षेपयोः सत्त्वात् तुल्यः पर्य्यनुयोग इति वाच्यम्, अज्ञाततया साक्षिसिद्धेऽज्ञाननिवृत्त्यर्थं प्रमाणप्रश्नस्य प्रमाणादर्शनेन स्वरूपतिरस्काररूपस्य च आक्षेपस्य कर्त्तुं सुकरत्वात्। अस्तु तर्हि ममाऽपि साक्षिसिद्धे अज्ञाने प्रमाणप्रश्नः समञ्जसः; एवं तर्हि अज्ञानसाक्षिणोः सम्बन्धोऽपि वाच्यः, अन्यथा साक्षिणः साधकत्वानुपपत्तेः। तथा अज्ञानतत्सम्बन्धयोः अनादित्वमपि वाच्यम्, अन्यथा पूर्वमुक्तस्य

विषयक भ्रम हुआ। [अर्थात् शब्दाभास ही भ्रममें कारण होता है और अज्ञान उसका विषय होता है] उसीको दिखाते हैं कि भ्रमका अपने समान-विषयक अज्ञान उपादान है, इस करण अज्ञानविषयक दूसरा अज्ञान माननेसे अनवस्था दुर्वार होगी।

वादी—अज्ञानकी अनेक परम्पराएँ क्यों न मान ली जायँ?

सिद्धा०—हन्त! तब तो एक अज्ञानको न सहनेसे आक्षेप करते हुए तथा अनेक अज्ञान स्वीकार करनेमें मदोन्मत्त और अपने व्याघात, गौरव, वैयर्थ्य आदि दोषोंको न देखते हुए तुमने तो अपने पक्षका निर्वाह बिलकुल ही नष्ट कर दिया।

पूर्वपक्षी—जैसे मेरे प्रश्न और आक्षेपको तुमने खण्डित किया, वैसे ही तुम्हारे भी तो प्रश्न और आक्षेप कहीं होंगे? तब तो प्रश्न समान रहा।

सिद्धा०—हमारे यहाँ तो अज्ञातपनेसे साक्षिसिद्ध वस्तुमें उस अज्ञानकी निवृत्तिके निमित्त प्रमाणके विषयमें प्रश्न करना और प्रमाणके न होनेमें स्वरूप-तिरस्काररूप आक्षेप करना सुगम है, इसलिए कुछ दोष नहीं आता।

पूर्व०—अच्छा तो साक्षिसिद्ध अज्ञानमें प्रमाणका प्रश्न हमारा भी ठीक है।

सिद्धा०—यदि ऐसा है, तो अज्ञान और साक्षीका सम्बन्ध भी मानना होगा, अन्यथा साक्षी साधक नहीं बनेगा। ऐसे ही अज्ञान और अज्ञान-सम्बन्धको भी अनादि कहना होगा, नहीं तो पहले मुक्त हुए पुरुषको इस समय संसारप्राप्ति होगी।

इदानीं संसारोपलम्भः स्यात्। न च पूर्वमपि अज्ञानान्तरमेवेति वाच्यम्, अज्ञानपरम्परातः एकस्यैव लघुत्वात्।

तच्च यत् येन विना अनुपपन्नम्, तत् सर्वं सम्बन्धित्वमनादित्वम् अनिर्वचनीयत्वं भावरूपत्वं विचित्रशक्तिकत्वम् एकत्वमन्यद्वा यत् किञ्चित् अपेक्षितं स्वोपपादकत्वेन सर्वं कल्पयति इत्यपि वाच्यम्। तथा च प्रमाणप्रश्नोऽनर्थक एव, अज्ञानस्य साक्षिणैव सिद्धत्वात्। न च अज्ञानविषयाज्ञाननिवृत्त्यर्थं प्रमाणप्रश्नो युक्त इति वाच्यम्, तदभावात्। अज्ञानस्य प्रमाणेन ज्ञातुमशक्यत्वाच्च तेन तस्य विरोधात्। तदयं तमोदीपन्यायः तथाहि—

पूर्व०—पहले भी दूसरा ही अज्ञान था इससे उक्त दोष नहीं आ सकता।

सिद्धा०—अज्ञानपरम्परा माननेकी अपेक्षासे तो एक अज्ञान मान लेनेमें ही लाघव है।

[अर्थात् आत्मामें अज्ञानपरम्परा क्यों मानते हो आवरणके लिए या अज्ञानसम्बन्धके लिए? इसमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि आवरण तो एक अज्ञानसे भी हो सकता है फिर उसकी परम्परा क्यों मानी जाय? रहा दूसरा पक्ष, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवायकी तरह अज्ञानसे ही सम्बन्धका भी उपपादन हो सकता है, जैसे कि समवाय स्वसम्बन्धी प्रतीतिसिद्ध सम्बन्धका अपने आप उपपादन करता है, ऐसे ही अज्ञानको भी समझो, सारांश यह है कि अज्ञान और साक्षीके सम्बन्धका उपपादक अज्ञान ही है, इसलिए लाघवसे उस अज्ञानको एक ही मानना उचित है] परन्तु वह अज्ञान भी जिसके बिना अनुपपन्न है, उसकी कल्पना कर लेता है, जैसे सम्बन्धित्व, अनादित्व, अनिर्वचनीयत्व, भावरूपत्व, विचित्रशक्तिकत्व, एकत्व, अथवा जो कुछ अपेक्षित हो अपने उपपादकरूपसे सबकी कल्पना कर लेता है, यह भी कहना होगा, इसलिए तुम्हारा प्रमाणप्रश्न अनर्थक ही है; क्योंकि अज्ञान साक्षिसिद्ध है।

पूर्व०—अज्ञानविषयक जो अज्ञान उसकी निवृत्तिके लिए तो प्रमाणप्रश्न हो सकता है।

सिद्धान्ती—अज्ञानविषयक अज्ञान है ही नहीं, फिर किसकी निवृत्ति? और प्रमाणसे अज्ञान जाना भी नहीं जाता, प्रमाणसे तो अज्ञानका विरोध है। यही तमोदीपन्याय कहलाता है। इसी को कहते हैं—'अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेदिति,

'अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद्यो मानेनाऽत्यन्तमूढधीः ।
स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा ॥'

तथा च अज्ञानं कथमिति प्रष्टैवाऽऽत्मज्ञानमुपपादनीयमिति स्वानुभवसिद्धे कथन्ताऽनुपपत्तिरेव । कुतस्तर्हि मे मुक्तिः कर्त्तृत्वाद्यशेषानर्थव्रातप्रसवबीजस्य आत्माज्ञानस्य स्वानुभवसिद्धत्वात् ? तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याऽपरोक्षब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण अज्ञानबाधादेवेति गृहाण ।

ननु कोऽयं बाधः ? तत्र पूर्वप्रत्ययस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वनिश्चय इति अन्ये, तन्न; अन्यथाख्यात्यनङ्गीकारात् अज्ञानस्य अबाधापत्तेश्च ।

जो अत्यन्त मूढ़बुद्धि पुरुष प्रमाणसे अज्ञानको जानना चाहता है, वह निश्चय ही दीपकसे अन्धकारको ढूढ़ना चाहता है ।

अज्ञान कैसे हुआ ? इस प्रकार पूछनेवाले को ही अपना अज्ञान कहना चाहिये । अतः स्वानुभवसिद्ध अज्ञानके बारेमें अनुपपत्ति कैसे हो सकती है ?

पूर्व०—कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि अनर्थसमूहोंकी उत्पत्तिका बीज आत्माका अज्ञान है, वह यदि स्वानुभवसिद्ध है, तो मेरी मुक्ति कैसे होगी ?

सिद्धा०—'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे जायमान जो अपरोक्ष ब्रह्मात्मसाक्षात्कार है, उससे अज्ञानका बाध हो जानेसे ही मुक्ति हो जाती है, यह समझो ।

पूर्व०—यह बाध क्या चीज है ? इसपर नैयायिक उत्तर देता है कि पूर्वप्रतीतिके व्यधिकरणप्रकारकत्वका जो निश्चय है, वही बाध कहलाता है [अर्थात् 'इदं रजतम्' यह पुरोवर्त्तिविषयक रजतत्वप्रकारक जो पूर्व प्रत्यय हुआ इसका व्यधिकरण याने इदन्त्वाधिकरण जिसका अधिकरण न हो, ऐसा जो प्रकार तद्विषयक जो निश्चय वही बाध है । अर्थात् पूर्वज्ञानमें भ्रमत्वनिश्चय होना बाध कहलाता है ।] इसपर वेदान्ती कहता है कि यह नैयायिकका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अन्यथाख्यातिवाद आ पड़ता है, वह अङ्गीकारयोग्य नहीं है [अर्थात् अन्यथाख्यातिवादीके मतमें पुरोवर्ती सीपमें रजत नहीं है, किन्तु सादृश्यादिसे उद्बुद्ध हुआ जो पूर्वसंस्कार उससे पुरोवर्ती सीप रजतरूपसे प्रतीत होने लगता है; परन्तु विषयके (रजतके) वहाँपर न होनेसे पूर्वज्ञान भ्रमरूप है । पीछे, व्यधिकरणप्रकारकत्वका निश्चयरूप बाध होता है, यह उनकी शैली है, हमारे मतमें पुरोवर्त्ती सीपमें मिथ्या रजतकी उत्पत्ति होती है अतः इदन्त्वेन प्रकारमें व्यधिकरणत्व नहीं है और इससे

सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति अस्मदीयाः केचित्, तदपि आपातरमणीयम्; प्रत्येकसमुदायाभ्यामव्याप्तेः।

किञ्च, केयं निवृत्तिः ध्वंसमात्रं वा? ज्ञानसाध्यः स एव वा? पदार्थान्तरमेव वा? आत्मस्वरूपं वा? नाऽऽद्यः मुद्गराद्याघातजन्यघटादिध्वंसे तद्व्यवहारात्। न द्वितीयः, उत्तरज्ञानसाध्यपूर्वज्ञानध्वंसे तथात्वापत्तेः ज्ञानमात्रध्वंसे अतिव्याप्तेश्च। न तृतीयः, तद्ध्वंसाव्यापनात् तदनिवृत्तौ अद्वैतक्षतेः। न चतुर्थः, तस्य नित्यसिद्धत्वेन ज्ञानवैयर्थ्यापत्तेः। तस्मात् बाधस्यैव निर्वक्तुमशक्यत्वात् कथमज्ञानतत्कार्य्यबाधाद् मोक्ष इति।

अत्र ब्रूमः—

अज्ञानका बाध भी नहीं हो सकेगा] और विवरणाचार्यका कहना है कि विलास-सहित अज्ञानकी निवृत्तिका नाम बाध है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। हम पूछते हैं कि क्या विलासकी निवृत्तिका नाम बाध है या अज्ञानकी निवृत्तिका नाम बाध है अथवा उभयकी निवृत्तिका नाम बाध है? इसमें पहला और दूसरा पक्ष तो ठीक नहीं है, अव्याप्ति होनेसे एवं तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येककी निवृत्तिसे उभयकी निवृत्ति हो नहीं सकती, कारण कि प्रतियोगिभेदसे अभावका भेद माना जाता है।

और भी सुनो, यह निवृत्ति क्या वस्तु है, ध्वंसमात्र निवृत्ति है या ज्ञानसाध्य है या कोई और ही पदार्थ है अथवा आत्मस्वरूपका नाम निवृत्ति है? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि मुद्गरादिके आघातसे जायमान घटादिध्वंसमें बाधरूप निवृत्तिव्यवहार नहीं होता। इसी वास्ते दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तर ज्ञानसे साध्य जो पहले ज्ञानका ध्वंस है उसकी भी निवृत्ति बाधरूपसे मानी जायगी, और ज्ञानमात्रके ध्वंसमें अतिव्याप्ति दोष भी है। एवं तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसपर प्रश्न उठता है कि वह पदार्थान्तर निवृत्त होता है या नहीं? यदि होता है, तो कैसे और यदि नहीं होता है तो अद्वैतहानि हुई। अब रहा चौथा पक्ष वह भी नहीं बनता, क्योंकि आत्मा नित्य सिद्ध है, अतः इस अतः ज्ञान व्यर्थ होगा। इसलिए जब कि बाधका निर्वचन ही अशक्य है, तो फिर अज्ञान और अज्ञान कार्यके बाधसे मोक्ष कैसे हो सकता है?

सिद्धान्ती कहता है—इस विषयमें अब हम कहते हैं—

साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने समनन्तरनिश्चितिः ।
अध्यस्यमानं नास्तीति बाध इत्युच्यते बुधैः ॥ ४० ॥

शुद्धे अधिष्ठाने विपरीतमध्यस्य प्रवर्त्तमानस्य निवर्त्तमानस्य वा यदधिष्ठानविषयकं बाधकज्ञानं परोक्षमपरोक्षं वा उत्पन्नं तदनन्तरमिदमिह कालत्रयेऽपि नास्ति इति योऽयं निश्चयः, स एव बाध इति सर्वजनानुभवसिद्धम् । न च अन्यथाख्यातिवादेऽपि अस्य अर्थस्य अर्थात् पर्य्यवसानमस्तीति वाच्यम्, तत्राऽध्यस्यमानस्य अन्यत्र सत्त्वाभ्युपगमात् । एवं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे जाते अज्ञानं तत्कार्य्यं च सर्वं यावत् किञ्चित् तत्र अध्यस्तं तत् सर्वं तत्र कालत्रयेऽपि नास्तीति यो निश्चयः स्वानुभवसिद्धः, स एव तस्य तत्र बाध इति उच्यते । अत एव प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमनिर्वचनीयत्वमिति सम्प्रदायविदां लक्षणमपि समञ्जसम् ।

अधिष्ठानका साक्षात्कार करनेके अनन्तर ही जो यह निश्चय होता है कि अध्यस्यमान कुछ नहीं है, वह बाध कहलाता है ॥४०॥

शुद्ध अधिष्ठानमें विपरीतका अध्यास करके प्रवर्तमान अथवा निवर्त्तमान हुए पुरुषोंको जो अधिष्ठानविषयक बाधक ज्ञान होता है, वह परोक्ष उत्पन्न हो या अपरोक्ष हो उसके अनन्तर ही 'यह यहांपर तीन कालमें भी नहीं है' इस प्रकारका जो निश्चय है, वही बाध कहलाता है यह सबके अनुभवसे सिद्ध है।

प्रश्न—अन्यथाख्यातिवादमें भी तो इसी अर्थकी अर्थतः प्राप्ति है ।

उत्तर—अन्यथाख्यातिवादमें अध्यस्यमान रजतादिको अन्यत्र सत्य माना है । अनिर्वचनीयख्यातिवादमें यह बात नहीं है, अब इसी तरह ब्रह्मसाक्षात्कारके होनेके बाद अज्ञान और उसका कार्य सम्पूर्ण जो कुछ ब्रह्ममें अध्यस्त है वह वहाँपर तीनों कालोंमें नहीं है, इस प्रकारका जो स्वानुभवसिद्ध निश्चय है, वही उसका वहाँपर बाध कहा जाता है । (अर्थात् ब्रह्ममें जगत् तीन कालमें भी नहीं है, इस प्रकारके निश्चयका नाम बाध है) इसीलिए तो 'ब्रह्ममें जो निषेधका प्रतियोगी है, वह अनिर्वचनीय कहलाता है' यह अनिर्वचनीयका लक्षण वैदान्तियोंका ठीक हो जाता है ।

न च उत्तरकालीननिषेधप्रतियोगित्वेऽपि वर्त्तमानातीतकालयोः सत्त्वान्न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम् अनिर्वचनीयत्वमिति वाच्यम्, अनिर्वचनीयत्वापरिज्ञानात्। नहि कादाचित्कत्वमात्रेण अनिर्वचनीयत्वं भवति पराभिमतसत्यस्याऽपि घटादेस्तथात्वात्।

न च आविद्यकत्वेन विशेषः; कारणस्य नामान्तरकरणापत्तेः। न च ज्ञानबाध्यत्वेन विशेषः, तस्यापि सतो नास्तित्वप्रमित्यनुपपत्तेः। न च सकल-

---

पूर्व०—तीन कालमें निषेधका प्रतियोगी अनिर्वचनीय नहीं हो सकता, क्योंकि यद्यपि उत्तरकालमें निषेधकी प्रतियोगिता है सही, तथापि वर्तमान और भूतकालमें वह विद्यमान है। इसलिए त्रिकालमें निषेधका प्रतियोगी न हुआ।

सिद्धान्ती—अनिर्वचनीयका अर्थ न जाननेसे यह तुमको शङ्का हुई है। देखो, कदाचित् न रहनेसे अनिर्वचनीय नहीं हो सकता, अन्यथा नैयायिकोंको सत्यरूपसे अभिमत जो घट है, वह भी कदाचित् न रहनेसे अनिर्वचनीय ठहरेगा।

पूर्व०—शुक्तिरजतमें और घटादिमें तो बहुत भेद है, याने शुक्तिरजतादि आविद्यक (अविद्याके परिणाम) हैं, घटादि नहीं हैं।

सिद्धा०—घटादि भी आविद्यक ही हैं, यदि ऐसा न मानो तो कारणका नामान्तरकरणरूप दोष आयगा।

पूर्व०—ज्ञानबाध्य होनेसे इसमें विशेषता है। (अर्थात् शुक्तिरजतादि ज्ञानबाध्य हैं और घटादि ऐसे नहीं हैं, यही विशेषता है।

सिद्धा०—उस सद्रूप विशेषकी भी ज्ञानबाध्यताका असम्भव है।

पूर्व०—क्यों है?

सिद्धा०—ज्ञानबाध्य है—ज्ञाननिवर्त्त्य, सो सत्की नास्तित्व-प्रमितिके न होनेसे अनुपपन्न है।

पूर्व०—समस्त कार्यकारणका बाधरूप जो (नास्ति) ऐसी प्रतीति है, उसका बाधान्तर ढूँढ़ना होगा, नहीं तो अद्वैतकी क्षति होगी।

सिद्धा०—अद्वैतकी कोई क्षति नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त समस्त वस्तुकी बाधरूप जो प्रतीति है उसकी भी अपनेमें अन्तर्भाव होनेसे ही बाधरूपता है। (अर्थात् ब्रह्ममें अध्यस्यमान सम्पूर्ण वस्तु त्रिकालमें भी नहीं है, इस प्रकारका जो निश्चय है उसके दो रूप हैं। एक तो बाधात्मक है, दूसरा अध्यस्यमानत्वरूप है, वहांपर अध्यस्यमानत्वरूपसे तो स्वविषयत्व है बाधरूपसे विषयित्व है, इसीलिये आत्माश्रय दोष नहीं आता।

कार्य्यकारणबाधरूपस्य नास्तीति प्रत्ययस्य बाधान्तरं मृग्यम्, अन्यथा अद्वैतक्षतिरिति वाच्यम्, ब्रह्मातिरिक्तसर्वबाधरूपस्य तस्य स्वान्तर्भावेनैव तथात्वात्। न च ब्रह्मातिरिक्तमस्ति नास्ति वा इति विकल्पावकाशः, अनिर्वचनीयत्वेन परिहृतत्वात्। अख्यात्यात्मख्यात्यसत्ख्यातिवादेषु भ्रमबाधव्यवस्थानुपपत्तेः। अन्यथाख्यातिवादिनैव दर्शितत्वात् न इह यत्यते ग्रन्थगौरवभयात् अनात्मविचारत्वाच्च।

तस्मात् बाधकप्रत्ययोत्तरमध्यस्तस्य त्रैकालिकासत्त्वनिश्चयो बाध इति सिद्धम्। तथा च सुरेश्वरः—

> 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
> अविद्यासहकार्य्येण नासीदस्ति भविष्यति॥'

अथ कथं विद्याया अविद्याबाधकत्वम्, विरोधादिति चेत्; कस्तर्हि तयोर्विरोधः? किमेककालानवस्थितत्वम्? उत एकदेशानवस्थित्वम्?

पूर्व०—बाध्यमान प्रपञ्च ब्रह्मसे अतिरिक्त है या नहीं, यदि है, तो आत्माकी तरह अनिवर्त्त्य होगा यदि नहीं है, तो उसके अभावके उद्देश्यसे ज्ञानादिमें प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि उसका अभाव तो स्वतःसिद्ध ही है।

सिद्धान्ती—ब्रह्मसे अतिरिक्त प्रपञ्च है या नहीं? इस प्रश्नका मौका ही नहीं है, क्योंकि इसका तो अनिर्वचनीयत्वरूपसे परिहार हो चुका है, और अख्याति, आत्मख्याति, और असत्ख्याति वादोंमें भ्रम और बाधकी व्यवस्था अनुपपन्न है उसको अन्यथाख्यातिवादीने अच्छी तरहसे दिखा दिया है, हम इसपर प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता है, और यह अनात्मवाद भी है, अतः इसमें हम क्यों यत्न करें। इसलिए बाधप्रतीतिके बाद जो अध्यस्तका त्रैकालिक असत्त्व-निश्चय है, वहीं बाध कहलाता है, यह बाधका ठीक-ठीक लक्षण सिद्ध हुआ, इसी बातको सुरेश्वराचार्यने भी स्पष्ट किया है—'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे जायमान जो यथार्थ बुद्धि है, उसके उत्पन्न होते ही कार्यके सहित अविद्या न थी, न है और न होगी, इस प्रकारकी जो प्रतीति है, वही बाध है॥

पूर्व०—विद्या अविद्याकी बाधक कैसे है?

सिद्धान्ती—विरोधसे।

आहोस्वित् वध्यघातकत्वम्? अथवा भावाऽभावात्मकत्वम्? नाद्यः, पूर्वभाविन्या अविद्यया सह विद्याया एककालावस्थितत्वात् विद्योत्तरमविद्यानिवृत्तेः अन्यथा विद्यावैयर्थ्यात्। न द्वितीयः, व्यधिकरणयोर्विद्याविद्ययोर्विरोधाभावेन एकाधिकरणत्वस्य अवश्यवक्तव्यत्वात्। तृतीये वध्यस्य घातो वाच्यः। यत्कर्तृत्वं घातकत्वम्, ध्वंसो घातस्तत्कर्तृत्वं घातकत्वमिति चेत्, स तर्हि वध्याद्भिन्नः स्वतन्त्रः पदार्थः कश्चित् उत तद्धर्मः तदात्मैव वा? आद्ये वध्यस्य ध्वंसो न स्याद् हिमवद्विन्ध्ययोरिव परस्परासम्बन्धात्। द्वितीये धर्म एव धर्मिणो दीर्घायुष्ट्वमानयति अन्यथा निराश्रयो धर्म एव न स्यात्। तृतीये तु विद्याऽविद्योत्पादिकैवेति कुतो विरोधः।

न चतुर्थः, विद्याऽविद्ययोः उभयोरपि भावरूपत्वात् अविद्यायाः प्रागभाव-

---

पूर्व०—उन दोनोंका आपसमें क्या विरोध है। एक कालमें न रहनारूप विरोध है या एक देश में न रहनारूप विरोध है अथवा वध्यघातकत्वरूप विरोध है? किं वा भाव और अभावरूप विरोध है? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वभाविनी अविद्याके साथ विद्याकी एक कालमें अवस्थिति है, क्योंकि विद्याके बाद ही तो अविद्याकी निवृत्ति होती है, नहीं तो विद्या व्यर्थ हो जायगी। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विद्या और अविद्याका यदि भिन्न अधिकरण माना जाय तो विरोध न बनेगा, इसलिए उन दोनोंका एक अधिकरण अवश्य मानना होगा। अब रहा तीसरा पक्ष उसमें भी वध्यका घात कहना होगा। ध्वंस को घात कहते हैं और उस ध्वंसका कर्तृकत्व ही घातकत्व माना जायगा। यदि ऐसा कहो, तो प्रश्न यह उठता है कि वह वध्यसे भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ है या उसका धर्म है अथवा तद्रूप ही है। इनमें यदि पहला पक्ष कहो तब तो वध्यका नाश नहीं होगा, क्योंकि वे दोनों हिमालय और विन्ध्याचलके समान परस्पर असम्बद्ध हैं। और दूसरे पक्षमें धर्म ही तो धर्मीकी स्थिरताका सम्पादक होता है, नहीं तो निराश्रय धर्म ही नहीं रहेगा। तृतीय पक्षमें तो अविद्याकी उत्पादिका ही विद्या ठहरी तो फिर कैसे विरोध हो सकता है।

एवं चौथा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विद्या और अविद्या ये

रूपत्वस्य निरस्तत्वात् अन्यथा एककालावस्थानं न स्यात्। तस्मात् विद्याऽविद्ययोर्विरोधस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् कथं विद्याया अविद्याबाधकत्वं विपरीतं वा किं न स्यादिति ? अत्रोच्यते—

उपमर्द्यस्वभावत्वमविद्याया विरोधिता ।
तत्कर्तृत्वं तु विद्यायाः प्रकाशतमसोरिव ॥४१॥

यद्यपि विरोधान्तरमिह निर्वक्तुमशक्यम् तथापि उपमर्द्योपमर्दकभावलक्षणोऽयं विरोधः शक्यते एव निर्वक्तुम्, अविद्योपमर्दकत्वस्य विद्यास्वभावस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोकप्रसिद्धत्वात् ।

न च विरोधिताऽविशेषे विद्योपमर्दकत्वमेव अविद्यायाः किं न स्यात् इति वाच्यम्, तथा सति विद्योत्पत्तिरेव न स्यात्, उपमर्दिकाया अविद्यायाः

दोनों भावरूप ही हैं; अविद्या प्रागभावरूप है, इसका खण्डन हो चुका है। नहीं तो दोनोंकी एक कालमें स्थिति न होगी। इसलिए विद्या और अविद्याका विरोध कहा ही नहीं जा सकता है, फिर कैसे विद्या अविद्याकी बाधिका हो सकती है! विपरीत ही क्यों न हो अर्थात् अविद्या ही विद्याकी बाधिका क्यों न हो ?

सिद्धान्ती—इसपर हम कहते हैं।

उपमर्द्यत्व अविद्याका स्वभाव है और उपमर्दकत्व विद्याका स्वभाव है बस यही इनमें विरोधिता है जैसे प्रकाश और अन्धकार आपसमें उपमर्द्य और उपमर्दक हैं, वैसे ही विद्या और अविद्या भी परस्पर उपमर्द्य और उपमर्दक हैं ॥ ४१ ॥

यद्यपि अन्य प्रकारका विरोध यहाँपर नहीं कहा जा सकता, तथापि यह उपमर्द्य उपमर्दकभावरूप विरोध तो अवश्य ही कहने योग्य है, क्योंकि अविद्याका उपमर्दन (नाश) करना विद्याका स्वभाव है। अन्वय और व्यतिरेकसे यह लोकप्रसिद्ध है।

पूर्व०—विरोधमें कोई विशेषता तो है ही नहीं, तो फिर अविद्या ही विद्याकी उपमर्दिका क्यों न मानी जाय ?

सिद्धा०—यदि ऐसा हो तो विद्याकी उत्पत्ति ही न होगी, क्योंकि उपमर्दिका ठहरी अविद्या, वह पहलेसे ही स्थित है। अपने आश्रयमें विद्याको आते ही न

पूर्वमेव स्थितत्वात् प्रतिनियतस्वभावस्य पर्य्यनुयोक्तुमशक्यत्वाच्च, यथा प्रकाशतमसोः। न च तत्र वैपरीत्यं शङ्कितुं शक्यते, दृष्टविरोधात्।

न च वध्यघातकपक्षोक्तदोषप्रसक्तिः उपमर्दस्य कालत्रयेऽपि नाऽस्तीति प्रमितिरूपस्य बाधापरपर्य्यायस्य विद्योत्तरं जायमानत्वात्।

ननु अविद्योपमर्दकस्वभावत्वं चेत् विद्यायास्तर्हि विदुषो विद्योत्पत्त्यनन्तरमविद्यायाः सकार्य्यायाः समूलकाषं कषितत्वात् तदैव विदेहकैवल्यप्राप्तौ देहपातस्तात्कालिकः स्यात्। तथा च उच्छिन्नः सम्प्रदायः स्यात्।

न च प्रारब्धसामर्थ्याद् देहपातो नास्तीति वाच्यम्, प्रारब्धस्यापि तदभावे स्थातुमशक्यत्वात् तन्त्वभावे पटस्य इव। न च प्रारब्धकर्मफलभोगनिर्वा-

---

देगी और प्रतिनियतस्वभाववाली वस्तुमें इस तरहसे प्रश्न करना बन भी नहीं सकता है, जैसे कि प्रकाश और अन्धकारमें।

पूर्व०—वहाँपर भी विपरीत ही क्यों न मान लिया जाय (अर्थात् अन्धकार ही प्रकाश का नाशक क्यों न मान लिया जाय)?

सिद्धा०—ऐसा नहीं हो सकता, लोकमें प्रकाश ही अन्धकारका नाशक देखा गया है।

पूर्व०—तब तो पहले जो वध्यघातकपक्षमें दोष कहे गये थे, वे ही यहाँपर भी प्राप्त होंगे।

सिद्धा०—वे दोष यहाँ नहीं आ सकते, क्योंकि 'जगत् त्रिकालमें भी नहीं है' इस प्रकार जो प्रमितिरूप उपमर्द है (अर्थात् जिसका दूसरा नाम बाध है) उसकी उत्पत्ति विद्याके बाद होती है।

पूर्व०—यदि अविद्याका उपमर्दक होना ही विद्याका स्वभाव है, तो ज्ञानी पुरुषको विद्योत्पत्तिके बाद ही कार्यसहित अविद्याका समूल नाश हो जानेसे तत्काल ही विदेह कैवल्यकी (मोक्षकी) प्राप्ति होगी और तत्काल ही देहपात भी हो जायगा, तब तो सम्प्रदाय उच्छिन्न हो जायगा। वेदान्तका उपदेशक कौन रहेगा?

सिद्धा०—प्रारब्धकर्मके सामर्थ्यसे ही ज्ञानी पुरुषका देहपात नहीं होता।

वादी—प्रारब्ध भी तो अविद्याका ही कार्य है, अतः अविद्याका अभाव होनेसे देहस्थिति ही नहीं हो सकती। जैसे कि तन्तुओंके अभावमें पट नहीं रह सकता, वैसे ही यहाँ भी जानो।

हकतया कियत्कालमविद्याऽपि अनुवर्त्तते इति वाच्यम्, विद्याया अविद्योपमर्दकत्वस्वभावहानिप्रसङ्गात्। न च उत्तरकाल एव तथा स्वभावः, एकस्य स्वभावद्वयानभ्युपगमात्। न च आवरणशक्तिप्रधानमज्ञानं निवृत्तमेव विक्षेपशक्तिप्रधानं तु अनुवर्त्तते प्रारब्धनिर्वाहाय इति वाच्यम्, अज्ञानद्वयाभवात्। न च एकमेव शक्तिद्वयविशिष्टम्, एकस्य युगपत् स्थितिनिवृत्त्योर्विरुद्धत्वात्। न च शक्तिनिवृत्तिमात्रमेव विवक्षितम् शक्तिशक्तिमतोरभेदात्। भेदे वा अज्ञानं न निवर्तेत।

न च प्रारब्धनिवृत्त्या तन्निवृत्तिः, प्रारब्धनिवृत्तेः अप्रमाणत्वात्। न च तदनन्तरं ज्ञानमेव अप्रतिबद्धं तन्निवर्त्तकमिति वाच्यम्, प्रारब्धनाशे

सिद्धा०—प्रारब्ध कर्मोंके फलभोगकी निर्वाहिका होनेसे अविद्याकी भी कुछ काल तक अनुवृत्ति होती है।

पूर्व०—तब तो विद्याका जो अविद्या-उपमर्दक स्वभाव है उसकी हानि होगी।

सिद्धा०—विद्याका ऐसा स्वभाव उत्तरकालमें ही रहता है।

पूर्व०—एकके दो स्वभाव मानना असङ्गत है।

सिद्धा०—आवरणशक्तिप्रधान अज्ञान तो निवृत्त हो ही जाता है परन्तु विक्षेपशक्तिप्रधान अज्ञानकी अनुवृत्ति प्रारब्ध कर्मोंके निर्वाहके लिए बनी रहती है।

पूर्व०—अज्ञान दो हैं ही नहीं।

सिद्धा०—एक ही अज्ञान दो शक्तियोंसे युक्त रहता है।

पूर्व०—एक अज्ञानकी एक ही कालमें स्थिति और निवृत्ति विरुद्ध है।

सिद्धा०—यहांपर निवृत्तिपदसे केवल शक्तिकी निवृत्ति ही विवक्षित है।

पूर्व०—शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद है, इससे तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। यदि भेद मानो, तो अज्ञान निवृत्त न होगा।

सिद्धा०—प्रारब्ध कर्मकी निवृत्ति होनेपर उसकी भी निवृत्ति हो जाती है।

पूर्व०—प्रारब्ध कर्मकी निवृत्तिमें कोई प्रमाण नहीं है।

सिद्धा०—प्रारब्ध कर्मका शेष हो जानेपर अप्रतिबद्ध (न रुकनेवाला) ज्ञान ही उसका निवर्त्तक है।

देहपातानन्तरं ज्ञानस्यैव अभावात् पूर्वज्ञानस्य च प्रारब्धेन प्रतिबद्धत्वात् । न च अविद्यासंस्कारो लेशाविद्याशब्दाभिधेयो अनुवर्त्तत इति वाच्यम्, तस्याऽपि अविद्याकार्य्यत्वात् । अविद्यामात्रत्वे च संस्कारशब्दप्रयोगवैयर्थ्यात् । जीवन्मुक्तिप्रतिपादकश्रुतिस्मृतिप्रामाण्याद्विदुषो देहस्थितिः कल्प्यत इति चेत्, न; शास्त्रस्य जीवन्मुक्तिप्रतिपादने प्रयोजनाभावात् ।

मुमुक्षूणां श्रवणादौ प्रवृत्तिः प्रयोजनमिति चेत्, अस्तु तर्हि श्रवणादिविधेरर्थवादस्तत् शास्त्रम् । तथा च लौकिकवैदिकप्रमाणविरोधात्तेन कथं विदुषो देहस्थितिः कल्प्यते । न च मुक्तेषुदृष्टान्तेन प्रारब्धस्थितिः साधितेति वाच्यम्, दृष्टान्ते वैषम्यात्, तत्र कर्मोपादानस्य इषोः अनाशात् । न च जीवन्मुक्तौ

पूर्व०—प्रारब्धका नाश होनेपर देहपात हो जाता है, इस दशामें ज्ञान कहाँ रहेगा और पहला ज्ञान प्रारब्धसे रुका हुआ है ।

सिद्धा०—'लेशाविद्या' इस शब्दसे कहा जानेवाला जो अविद्यासंस्कार है उसकी अनुवृत्ति बनी रहती है ।

पूर्व०—वह भी तो अविद्याका ही कार्य है । यदि उसको अविद्यामात्र ही कहो तो उसके साथ संस्कारशब्दका प्रयोग करना व्यर्थ है ।

सिद्धा०—जीवन्मुक्तिप्रतिपादक श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणोंसे ज्ञानी पुरुषके देहकी स्थितिकी कल्पना होती है ।

पूर्व०—जीवन्मुक्तिका प्रतिपादन करनेमें शास्त्रका कुछ प्रयोजन नहीं है, अतः कल्पना ठीक नहीं है ।

सिद्धा०—मुमुक्षु पुरुषोंकी श्रवणादिमें प्रवृत्तिका होना ही प्रयोजन है ।

वादी०—वह शास्त्र श्रवणादि विधिका अर्थवाद रहे तो क्या हानि है ? तब तो समस्त लौकिक और वैदिक प्रमाणोंसे विरोध आवेगा, इससे ज्ञानी पुरुषके देहकी स्थितिकी कल्पना कैसे होगी ?

सिद्धा०—जैसे कि बाणके छूट जानेपर भी वेग बना रहता है, वैसे ही प्रारब्धकी स्थितिका भी निर्वाह हो जाता है ।

पूर्व०—यह दृष्टान्त तो विषम है, क्योंकि क्रियाका उपादान कारण जो बाण है उसका नाश नहीं होता है और प्रकृतमें तो उपादान कारण अज्ञानका नाश हो गया है ।

सार्वलौकिकी प्रसिद्धिरव्याहतेति वाच्यम्, प्रमाणविरहेण प्रसिद्धेरन्धपरम्परारूपत्वात्। न च अप्रामाणिकस्य शास्त्रकारैरुपपादनमनर्थकमिति वाच्यम्, शिष्यस्य अविद्वत्तया गुरौ अविश्वासपरिहारप्रयोजनतया तस्य अर्थवत्त्वात्।

तस्मात् विद्याया अविद्योपमर्दकत्वस्वाभाव्यात् विदुषः सद्योमुक्तावुपदेष्टुरभावात् कुतो विद्योत्पत्तिः? न च आचार्य्यनिरपेक्षैव विद्येति साम्प्रतम्, 'आचार्य्यवान् पुरुषो वेद', 'नैषा तर्केण मतिरापनेया', 'प्राप्य वरान्निबोधत', 'आचर्य्यस्ते गतिं वक्तेति', 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' इत्यादिश्रुतिभ्यः। नैष दोषः।

सिद्धा०—जीवन्मुक्तिमें सार्वलौकिक प्रसिद्धि अक्षुण्ण है, तो जीवन्मुक्ति क्यों न मानी जाय?

पूर्व०—प्रमाणके अभावमें लोकप्रसिद्धिमात्रको मानना तो अन्धपरम्परा है।

सिद्धा०—अप्राणिक नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो शास्त्रकारोंका कथन व्यर्थ हो जायगा।

पूर्व०—शिष्यके अज्ञानी होनेके कारण गुरुके विषयमें उसका विश्वास न रहेगा, बस उसका परिहारमात्र ही प्रयोजन है। एतावता शास्त्रकारोंका कथन सार्थक हो जाता है।

यदि अविद्याका उपमर्दक होना ही विद्याका स्वभाव मानो, तो ज्ञानीके तत्काल ही मुक्त हो जानेसे उपदेशक कोई न न रहेगा। फिर विद्याकी उत्पत्ति कैसे होगी? कदाचित् यह कहो कि आचार्यके बिना ही विद्या हो जायगी, तो यह अयोग्य बात है; क्योंकि श्रुति कहती है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (आचार्यवाला पुरुष ही जान सकता है), 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (यह बुद्धि तर्कसे प्राप्त नहीं हो सकती है), 'प्राप्य वरान् निबोधत' (आचार्यको प्राप्त करके ज्ञानलाभ करो), 'आचार्यस्ते गतिं वक्ता' (आचार्य ही तेरी गति कहेगा), 'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (बिना दूसरेके कहे गति नहीं है, किन्तु दूसरेसे कही हुई विद्या ज्ञानके लिए होती है) इत्यादि श्रुतियोंसे जाना जाता है कि आचार्यके उपदेशके बिना ज्ञानलाभ नहीं होता।

सिद्धा०—यह कोई दोष नहीं आ सकता।

कल्पितोऽप्युपदेष्टा स्यात् यथा शास्त्रं समादिशेत् ।
न चाऽविनिगमो दोषोऽविद्यावत्त्वेन निर्णयात् ॥ ४२ ॥

यद्यपि विदुषस्तदानीमेव मुक्तत्वात् पारमार्थिकः कश्चित् उपदेष्टा नाऽस्ति, तथाऽपि कल्पितेन गुरुणा विद्योत्पत्तिसम्भवात् न अनुपपत्तिः काचित् । न च कल्पितस्य कथं सत्यज्ञानजनकत्वमिति वाच्यम्, शास्त्रवत् उपपत्तेः, प्रतिबिम्बवच्च । न च गुरुशिष्ययोर्मध्ये कतरः कल्पक इति अविनिगमो दोष इति वाच्यम्, अविदुषः कल्पकत्वात्, गुरोश्च विदुषः कल्पना-

---

कल्पित आचार्य भी उपदेश कर सकता है जैसे कि शास्त्र उपदेश करता है और अविद्यावत्त्वेन शिष्य ही कल्पक होता है, यह निर्णीत होनेसे इसमें विनिगमनाभावरूप दोष भी नहीं है ॥ ४२ ॥

सुनो, यद्यपि तत्त्वसाक्षात्कार होते ही ज्ञानीके मुक्त हो जानेसे पारमार्थिक उपदेशक कोई नहीं है, तथापि कल्पित गुरुसे भी विद्याकी उत्पत्ति हो सकती है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

पूर्व०—कल्पित गुरु-सत्य ज्ञानका जनक (उत्पादक) कैसे होगा ?

सिद्धान्ती—शास्त्रकी तरह 'अर्थात् जैसे कि वेदके कल्पित होनेपर भी स्वार्थबोधकता उसमें है वैसे ही कल्पित आचार्य भी उपदेशक हो सकता है' [परन्तु मीमांसक लोग वेदको अपौरुषेय मानते हैं, उनके लिए दूसरी युक्ति है–] 'प्रतिबिम्बवच्च' अर्थात् जैसे प्रतिबिम्ब कल्पित होनेपर भी प्रतीतिका जनक होता है, वैसे ही कल्पित गुरुको भी जानो ।

पूर्व०—गुरु और शिष्य इन दोनोंमें से कौन कल्पक है, इसपर एकका निर्णय करनेवाली कोई युक्ति तुम्हारे पास नहीं है । इसलिए इसमें दोष है । [तात्पर्य यह है कि तुम्हारे मतमें एक ही जीव है और सब उसकी अविद्यासे कल्पित हैं, इसमें प्रष्टव्य यह है कि शिष्यके अज्ञानसे गुरु कल्पित है या गुरुके अज्ञानसे शिष्य कल्पित है, इस प्रकार प्रबल युक्तिके अभावसे शिष्यकी श्रवणादिमें प्रवृत्ति न होगी ।]

सिद्धान्ती—शिष्यके अज्ञानसे ही गुरु कल्पित है, क्योंकि अविद्वान् हीं कल्पक होता है । गुरु हैं विद्वान्, उनमें कल्पनाका बीज जो अज्ञान है, उसका

बीजाभावेन तत्त्वानुपपत्तेः। तस्मात् शास्त्राचार्य्यप्रसादासादिततत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसाक्षात्कारेण मोक्षाविर्भावप्रतिबन्धकाज्ञानतत्कार्य्यतिरस्कारसमनन्तरं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाद्वितीयानन्दोऽस्मीति मन्यते, ततः कृतकृत्यो भवतीति।

अतः सुष्ठूक्तम्—'आत्मानन्दं साक्षाद्विनिश्चित्येति'। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा' इत्यारभ्य 'यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक' इत्यन्तं 'भृगुर्वै वारुणिः' इत्यारभ्य 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यन्तं 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आमनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यारभ्य 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यन्तेन व्युत्पादनाच्च आत्मनः परमानन्दरूपत्वस्य।

अभाव होनेसे कल्पकत्व नहीं बनता। इसलिए शास्त्र और आचार्यके अनुग्रहसे प्राप्त 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे उत्पन्न साक्षात्कारसे मोक्षके आविर्भावमें विघ्नरूप जो अज्ञान और उसका कार्य उन दोनोंके हट जानेके बाद ही 'मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हूँ, अद्वितीय आनन्द स्वरूप हूँ' ऐसा मानता है। इसीसे कृतकृत्य हो जाता है। अतएव इस ग्रन्थके आदि वाक्यमें 'आत्मानन्दं साक्षाद् विनिश्चित्य' ऐसा कहा है। और श्रुतियोंसे भी आनन्दस्वरूप ही आत्मा सिद्ध होता है। अब क्रमशः उन श्रुतियोंको दिखाते हैं—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (विज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्म है), 'को ह्येवान्यात्कः०' (यदि यह व्यापकरूप आनन्द न होता तो कौन चेष्टा करता) 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा' वह (यह आनन्दकी मीमांसा है)। इस श्रुतिसे लेकर 'यश्चायं पुरुषे' (जो इस पुरुषमें है और जो यह आदित्यमण्डलमें है वह एक ही है) इस श्रुति तक और 'भृगुर्वै वारुणिः' (वारुणि भृगुने वरुणके निकट जाकर) यहांसे लेकर 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद' यहां तक और 'यो वै भूमा' (जो भूमा है वही सुखरूप है अल्प (एकदेशमें) सुख नहीं होता) इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे और 'न वा अरे' (अरे मैत्रेयी पतिकी कामनाके लिए पति प्यारा नहीं होता, किन्तु अपनी कामनाके लिए पति प्यारा होता है) यहांसे लेकर 'न वा अरे सर्वस्य' (अरे मैत्रेयी सबकी कामनाके लिए

ननु आनन्दत्वादयो धर्मा आत्मनि सन्ति न वा ? आद्ये ते किं सत्या असत्या वा ? नाद्यः, द्वैतापत्तेः । न इतरः, धर्मिणोऽनानन्दत्वापत्तेः । नहि रजतत्वं यत्रारोप्यते तद्रजतम् । न च अनानन्दत्वमानन्दभिन्नत्वं तदपि नास्तीति वाच्यम्, तथापि आनन्दरूपत्वासिद्धेः। न द्वितीयः, आनन्दत्वानाश्रये आनन्दव्यवहारादर्शनात्। न च सर्वव्यवहारातीतः अलौकिक एव अयमानन्दः, लौकिकवैदिकपदार्थयोरेकत्वात्। अन्यथा लोकवेदाधिकरणविरोधः ।

न च वाक्यार्थ एवायमानन्दस्तेन अपि आनन्दत्वाप्रतिपादनात् अखण्डे एव तात्पर्य्यात् । न च सर्वथा अलौकिके सुखे कस्यापि कामना सम्भवति,

---

सब प्यारे नहीं होते, किन्तु अपने सुखके लिए सब प्यारे होते हैं) यहां तक बृहदारण्यकश्रुतियोंसे आत्माके परमानन्दस्वरूपत्वका वर्णन किया है।

वादी—आनन्दत्वादि धर्म आत्मामें हैं या नहीं ? यदि हैं तो वे सत्य हैं या असत्य ? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे द्वैतकी प्राप्ति होगी । एवं दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, इसके माननेसे धर्मी जो आत्मा है, उसको निरानन्दत्वकी प्राप्ति होगी, क्योंकि जिसमें रजतत्व आरोपित होता है, वह रजत नहीं होता ।

प्रतिवादी—अनानन्दत्व आनन्दभिन्नत्व है, वह भी आत्मामें नहीं है ।

वादी—तो भी आनन्द रूपकी सिद्धि न हुई एवं दूसरा पक्ष 'आनन्दत्वादि आत्मामें नहीं हैं' भी ठीक नहीं है, क्योंकि आनन्दत्वका जो आश्रय नहीं है, उसमें आनन्दका व्यवहार हीं देखा जाता ।

प्रतिवादी—सब व्यवहारोंसे अतीत (पृथक्) अलौकिक यह आनन्द है ।

वादी—लौकिक वैदिक पदार्थ तो एक ही है, नहीं तो पूर्वमीमांसाके लोक-वेद-अधिकरणसे विरोध होगा ।

प्रतिवादी—वाक्यार्थ ही यह आनन्द है 'अर्थात् आनन्दस्वरूपका वाक्यार्थरूपसे वेद वर्णन करता है, इसलिए विरोध नहीं है ।

वादी—वेद भी आनन्दत्वादिका प्रतिपादन नहीं करता, उसका तो केवल अखण्डमें तात्पर्य है और सर्वथा अलौकिक सुखमें किसीकी भी कामना नहीं होती है [अर्थात् ब्रह्मानन्द भी काम्यमान है, और स्वर्गादि सुख भी लौकिक सुखके तुल्य ही है] ।

स्वर्गादेरपि लौकिकसुखसजातीयत्वात्। अत्र केचित्—अनानन्दव्यावृत्तिमात्रमानन्दत्वम्, न तु प्रसिद्ध आनन्द एव आत्मा; धर्मधर्मिभावानभ्युपगमात्। न च व्यावृत्त्यापि द्वैतापत्तिः, तस्या आश्रयानतिरेकात्। एतेन ज्ञानत्वादयो व्याख्याताः। तत् न; व्यावृत्तेः अपदार्थत्वात् अपोहवादापत्तेः; व्यावर्त्तकधर्मस्य अवश्यं वक्तव्यत्वाच्च, अन्यथा व्यावृत्त्यसिद्धेः।

न च स्वरूपेणैव व्यावृत्तिः, आत्मनोऽव्यावृत्तत्वात्; अन्यथा अब्रह्मत्वापत्तेः।

अन्ये तु आनन्दत्वादयो धर्मा यत्र कल्पितास्ते एव आनन्दादिपदार्थो लोकेऽपि प्रसिद्धाः, तत्रापि आनन्दत्वादीनां कल्पितत्वात्। न च एतावता आनन्दस्य काचित् क्षतिरस्ति, धर्मस्य अनुपादेयत्वात् तदाश्रयव्यक्तेरेव

सिद्धान्ती—इसपर कोई वेदान्ती याने संक्षेपशारीरकाचार्य यों समाधान करते हैं कि अनानन्दत्वकी व्यावृत्ति ही आनन्दत्व है, लोकप्रसिद्ध आनन्द आत्मा नहीं है, क्योंकि धर्मधर्मिभाव नहीं माना गया है।

वादी—व्यावृत्तिसे भी द्वैतापत्ति होगी।

वेदान्ती—वह व्यावृत्ति आश्रयसे भिन्न नहीं है। इसीसे ज्ञानत्वादिकी भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

सिद्धान्ती कहता है कि उन वेदान्तियोंका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यावृत्ति कोई पदार्थ नहीं है। अन्यथा अपोहवादकी (बौद्धाभिमतकी) प्राप्ति होगी और व्यावर्त्तक धर्म भी अवश्य ही कहना होगा। उसके विना व्यावृत्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकेगी। कदाचित् यह कहा जाय कि स्वरूपसे ही व्यावृत्ति है तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा अव्यावृत्तरूप है अन्यथा उसमें अब्रह्मत्वकी प्रसक्ति होगी। अब इस प्रकरणमें विवरणाचार्यकी भी सम्मति दिखाते हैं। उनका कहना है कि आनन्दत्वादि धर्म जहांपर कल्पित हैं, वे ही आनन्दादि पदके अर्थ हैं। यह बात लोकमें भी प्रसिद्ध है।

[शङ्का—लोकमें विषयजन्य सुखका नाम आनन्द है, उसमें आनन्दत्व कल्पित कहां है ?]

समाधान—लोकमें भी आनन्दत्वादि धर्म कल्पित ही हैं, परन्तु केवल इतनेसे आनन्दकी कोई क्षति नहीं है, क्योंकि धर्म जो आनन्दत्व है, वह उपादेय नहीं है किन्तु उस धर्मकी आश्रयरूपा जो व्यक्ति है (अर्थात् आनन्द) वही अभीष्ट

अभिलषणीयत्वात्। तदपि आपातरमणीयमिव प्रतिभाति, विशिष्टस्यैव आनन्दपदार्थत्वात् व्यक्तिमात्रे तदनुपपत्तेः, कल्पितानन्दत्वाश्रयस्य अनानन्दत्वप्रसङ्गानिवृत्तेश्च।

नहि यो धर्मो यत्र न स्वाभाविकस्तदन्तर्भावितः पदार्थः स सम्भवति, अन्यथा शुक्त्यादेरपि रजतपदार्थत्वापत्तेः।

अत्र उच्यते—

उपाधिसंश्रयो ह्यात्मा आनन्दत्वं तदाश्रयः।
विशिष्टशक्यपक्षे तु व्यक्तिर्वा शक्तिगोचरः॥ ४३॥

यदि लोके आनन्दत्वविशिष्ट एव आनन्दपदार्थस्तदापि आत्मैव आनन्दपदार्थो मुख्यः, एकस्यैव नानोपाध्यनुप्रविष्टस्य अनुगतव्यावृत्तिबुद्धिजनकतया जातिव्यक्त्युभयरूपत्वोपपत्तेः।

है। परन्तु यह विवरणाचार्यका कहना भी बिलकुल निर्दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दत्वविशिष्ट ही आनन्द है, केवल व्यक्तिमात्रमें उसकी अनुपपत्ति है। और भी दोष है कि कल्पित आनन्दत्वका जो आश्रय है वह आनन्दत्वप्राप्तिका निवर्त्तक (हटानेवाला) नहीं हो सकता है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि जो धर्म जिसमें स्वाभाविक नहीं है, उससे युक्त व्यक्ति पदार्थ नहीं होती, नहीं तो शुक्ति आदिमें भी रजतपदार्थत्वकी प्राप्ति होगी।

सिद्धान्ती—इस विषयमें हम कहते हैं; सुनो—

उपाधिसे युक्त आत्मा ही आनन्दत्व है और उसका आश्रय भी है। यह विशिष्ट शक्यपक्षमें कहा गया है (अर्थात् आनन्दत्वधर्मविशिष्ट आनन्दशब्दके शक्यार्थ माननेमें कहा गया है) अथवा केवल व्यक्तिको ही शक्यार्थ मानें तो भी आत्मा ही कहा जाता है। उभयथा आत्मा ही शक्यार्थ है ॥४३॥

यदि लोकमें आनन्दत्वविशिष्ट ही आनन्द पदार्थ माना जाय, तो भी आत्मा ही मुख्य पदार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि नाना उपाधिमें अनुप्रविष्ट हुई एक ही वस्तु अनुगत (एकाकार) बुद्धि और व्यावृत्त बुद्धिकी जनक होनेसे जातिरूप भी कही जा सकती है और व्यक्तिरूप भी (याने जाति व्यक्ति उभयरूपसे कही जा सकती है)। इसपर दृष्टान्त है—जैसे कि समस्त

यथा एकस्मिन्नेव स्वरूपे सर्वकल्पनारहिते मुखचन्द्रादौ बिम्बप्रतिबिम्बस्वरूपमिति त्रिविधव्यवहारस्य उपाध्यनुप्रविष्टत्वारोपानन्तरं दर्शनादित्युक्तं लक्षणास्थले। अथवा व्यक्तिरेव सर्वत्र पदशक्तिगोचरोऽस्तु। न च व्यक्तीनामानन्त्यात् पदशक्तिसम्बन्धव्यभिचारदोषप्रसङ्गः, विशिष्टशक्यपक्षेऽपि तुल्यत्वात्; विशेषणाभेदेऽपि विशेष्यभेदेन प्रतिविशेष्यं विशिष्टभेदात्। तस्मात् अशक्येनापि शक्यतावच्छेदकेन अनुगतशक्यव्यवहाराऽशक्यव्यावृत्तिव्यवहारयोर्जनयितुं शक्यत्वात्।

तत्रापि शक्तिकल्पने मानाभावात् कारणस्वरूपबहिर्भूतकारणतावच्छेदकवत्। तस्मात् आनन्दरूपत्वे आत्मनो न काचित् अनुपपत्तिः।

कल्पनासे रहित स्वरूपभूत मुखचन्द्रादिमें बिम्ब, प्रतिबिम्ब, स्वरूप इस प्रकार तीन तरहका व्यवहार उपाधिमें अनुप्रविष्टत्वके आरोपके बाद देखनेमें आता है, यह बात लक्षणास्थलमें कह दी गई है, यही प्रकृतमें भी जानो। अथवा व्यक्तिको ही पदशक्तिका गोचर मान लिया जाय, तो भी ठीक है।

शङ्का—व्यक्तिमें शक्ति माननेमें दोष आता है, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं उनमें शक्तिका ग्रह नहीं होगा और पदशक्तिसम्बन्धका व्यभिचार दोष भी प्राप्त होगा।

समाधान—यह तो विशिष्टशक्तिपक्षमें भी समान ही है, क्योंकि विशेषणका अभेद होनेपर भी विशेष्यके भेदको लेकर प्रत्येक विशेष्यमें विशिष्टका भेद होता है। इसलिए अशक्य जो शक्यतावच्छेदक है, उससे भी अनुगतका 'एकाकारका' व्यवहार और अशक्यव्यावृत्तिका व्यवहार हो सकता है।

शङ्का—शक्यतावच्छेदकमें भी शक्ति मान लें तो क्या हानि है?

समाधान—शक्यतावच्छेदकमें शक्तिकी कल्पना करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् जैसे कारणस्वरूपसे बाहर कारणतावच्छेदकमें कारणत्व की कल्पना करनेमें कोई प्रमाण नहीं मिलता, वैसे ही प्रकृतमें भी जानो। इसलिए आत्माके आनन्दस्वरूपत्वमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं आती।

[तात्पर्य यह है कि आनन्द भी आत्मा ही है, क्योंकि व्यक्तिसे भिन्न जाति कोई चीज नहीं है, उपाधिके तटस्थ होनेके कारण सर्वत्र शुद्धकी ही प्रतीति होती है, इस प्रकार श्रुति और युक्तियोंसे आत्माके आनन्दत्वादि स्वरूपत्वके

आनन्दरूपमात्मानं सच्चिदद्वयतत्त्वकम् ।
अपूर्वादिप्रमाणोक्तं प्राप्याहं तद्वपुःस्थितः ॥४४॥
योऽहमद्वयवस्त्वेव सद्वये दृढनिश्चयः ।
प्राप्य चानन्दमात्मानं सोऽहमद्वयविग्रहः ॥४५॥
नास्ति ब्रह्म सदानन्दमिति मे दुर्मतिः स्थिता ।
क्व गता सा न जानामि यदाहं तद्वपुःस्थितः ॥४६॥
पूर्णानन्दाद्वये तत्त्वे मेर्वादिजगदाकृतिः ।
बोधेऽबोधकृतैवासीदबोधः क्व गतोऽधुना ॥४७॥
संसाररोगसंग्रस्तो दुःखराशिरिवापरः ।
आत्मबोधसमुन्मेषादानन्दाब्धिरहं स्थितः ॥४८॥

निश्चित होनेपर 'तत्त्वमसि' महावाक्यसे जायमान अद्वैतसाक्षात्कारसे आवरण करनेवाला अज्ञान दूर हो जाता है, तब वह स्वात्माराम हो जाता है ।]

[अब यहांपर बारह कारिकाओंसे अपनी कृतकृत्यताको दिखलाते हैं—]
मैं सत्–चित्–अद्वयतत्त्वरूप और 'अपूर्वमनन्तरम्' इत्यादि श्रुति-प्रमाणोंसे कहे गये आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करके तद्रूपसे स्थित हुआ हूँ ॥ ४४ ॥

जो मैं अद्वितीय वस्तु होनेपर भी पहले द्वैतरूप मिथ्या प्रपञ्चको सत्य समझता था, अब वही मैं आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करके अद्वयरूपसे स्थित हूँ ॥४५॥

ब्रह्म सदा आनन्दरूप नहीं है, इस प्रकारकी मेरी दुर्मति थी, जब कि म तद्रूपसे स्थित हुआ तो न मालूम मेरी वह बुद्धि कहाँ चली गई ॥ ४६ ॥

पूर्ण आनन्द अद्वितीय तत्त्वमें ही यह समस्त मेरु आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अज्ञानसे काल्पित है । अधिष्ठानका बोध होनेपर वह अज्ञान न मालूम अब कहाँ चला गया ॥ ४७ ॥

संसाररूपी रोगसे ग्रसित हुआ मैं पहले दुःखराशिके समान था परन्तु आत्मबोधके प्रकट होते ही अब मैं आनन्दका समुद्र बन गया हूँ ॥ ४८ ॥

योऽहमल्पेऽपि विषये रागवानतिविह्वलः ।
आनन्दात्मनि सम्प्राप्ते स रागः क्व गतोऽधुना ॥४९॥
यस्य मे जगतां कर्त्तुः कार्य्यैरपहृतात्मनः ।
आविर्भूतपरानन्द आत्मा प्राप्तः श्रुतेर्बलात् ॥५१॥
परामृष्टोऽसि लब्धोऽसि प्रोषितोऽसि चिरं मया ।
इदानीं त्वामहं प्राप्तो न त्यजामि कदाचन ॥५१॥
त्वां विना निःस्वरूपोऽहं मां विना त्वं कथं स्थितः ।
दिष्ट्येदानीं मया लब्धो योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥५२॥
देहाभिमाननिगड़ैर्बद्धोऽबोधाख्यतस्करैः ।
चिरं ते दर्शनादेव त्रुटितं बन्धनं क्षणात् ॥५३॥

जो मैं थोड़ेसे विषयसुखमें अत्यन्त अनुरागवाला और अतिविह्वल रहता था अब आनन्दरूप आत्माके प्राप्त होनेपर वह राग न मालूम कहाँ चला गया ॥४९॥

पहले सांसारिक कार्योंसे मेरा चित्त आकर्षित रहता था, परन्तु आज श्रुतियोंके बलसे मुझको परमानन्दरूप आत्मा प्राप्त हो गया है ॥ ५० ॥

हे प्रभो, अब तुम अच्छी तरहसे जाने गये हो और प्राप्त हो गये हो। बहुत कालसे मैंने तुमको भुला रक्खा था, अब तुम मुझे मिल गये हो। मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा ॥ ५१ ॥

मैं तुम्हारे विना तुच्छ हूँ अतः मेरे विना तुम कैसे स्थित हो ? आहा बड़ी मङ्गलकी बात है कि आज मैंने तुमको पा लिया । आप कोई भी हों आपको मेरा नमस्कार है ॥ ५२ ॥

अज्ञानरूपी डाकूने देहाभिमानरूपी जंजीरसे मुझको बहुत दिनोंसे बाँध रक्खा था, परन्तु आज तुम्हारे दर्शनमात्रसे मेरा वह बन्धन क्षणभरमें टूट गया है ॥ ५३ ॥

विशुद्धोऽस्मि विमुक्तोऽस्मि पूर्णात् पूर्णतमाकृतिः।
असंस्पृश्य ममात्मानमन्तर्ब्रह्माण्डकोटयः ॥५४॥
तत्त्वमादिवचोजालमावृत्तमसकृत् पुरा ।
इदानीं तच्छ्रवादेव पूर्णानन्दो व्यवस्थितः ॥५५॥

ननु परिपूर्णानन्दस्वभावश्चेदात्मा कथं संसारावस्थायां न स्फुरति । न च परमप्रेमास्पदतया आत्मनः स्फूर्त्तिरेव आनन्दस्वरूपस्य स्फूर्त्तिरिति वाच्यम्, तादृगभिमानाभावात्; नहि मोक्षावस्थायां यादृगानन्दस्वरूपत्वमात्मनः श्रूयते, 'एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादि-श्रुतेस्तादृगानन्दात्माभिमानः कस्यचिदस्ति 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्' इति मोक्षे एव तदभिव्यक्तिश्रवणाच्च । संसारावस्थायां प्रतिबन्धसत्त्वाद् भासमानमपि आनन्दरूपत्वं नाभिमन्यत इति चेत्, कस्तर्हि

मैं विशुद्ध हूँ, मुक्त हूँ, पूर्णसे भी पूर्ण हूँ, मेरी आत्मामें, उसे विना स्पर्श किये ही, कोटि ब्रह्माण्ड विराजे हुये हैं ॥ ५४ ॥

पहले मैंने 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य समूहोंकी कई आवृत्तियाँ कीं परन्तु इस समय गुरुमुखसे एक वारके श्रवणमात्रसे ही मैं पूर्ण आनन्दरूपसे स्थित हो गया हूँ ॥५५॥

पूर्व०—यदि आत्मा परिपूर्णआनन्दस्वभाव है तो संसारदशामें उस आनन्दरूप आत्माका स्फुरण क्यों नहीं होता ?

सिद्धान्ती—परमप्रेमास्पदरूपसे जो आत्माकी स्फूर्त्ति है, वही आनन्द-रूपकी भी स्फूर्त्ति है।

पूर्व०—इस प्रकारका अभिमान तो होता नहीं [अर्थात् मोक्ष-अवस्थामें आत्मा जैसा आनन्दस्वरूप सुना जाता है—'एतस्यैव०' (इसी आनन्दकी मात्रा (लेश) को लेकर और प्राणी जीवित हैं) इत्यादि श्रुतिसे वैसा आनन्दात्माका अभिमान किसीको संसारदशामें नहीं होता । और भी कहा है कि 'आनन्दं०' (ब्रह्मका जो आनन्द रूप है वह मोक्षमें प्रतिष्ठित है) इस प्रकार मोक्षमें ही उस आनन्दकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) सुनी जाती है।

सिद्धान्ती—संसारदशामें प्रतिबन्धक (विघ्न) के होनेसे भासमान भी आनन्द प्रतीत नहीं होता ।

प्रतिबन्धः अज्ञानं तत्कार्य्यं वा ? आद्ये जीवस्य परस्य वा ? नान्त्यः, तस्य सर्वज्ञस्य निरवद्यस्य तदभावात् । नाद्यः, तस्य परेण अभेदात् 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'अनेन जीवेन आत्मना' 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

न च कल्पनामात्रेणैव जीवस्याऽपि अज्ञानं न वस्तुतोऽस्तीति वाच्यम्, परस्मिन्नपि प्रसङ्गात् । न च चिन्मात्रनिष्ठमज्ञानं तत्सर्वात्मना प्रतिबध्नात्येव इति वाच्यम्, यदि संसारावस्थायामप्रतिबद्ध आनन्दो नास्त्येव कस्य प्राप्त्या तर्हि प्रतिबन्धनिवृत्तिः स्यात् । नहि संसारप्राप्त्या संसारनिवृत्तिः सम्भवति। न च अप्रतिबद्ध एव आनन्दः संसारावस्थायामपि अस्त्येव केवलमज्ञानसमुद्भूतद्वैतान्तःपातिशब्दादिविषयविषविषण्णस्य तद्दर्शनातिलालसमानसस्य

पूर्व०—प्रतिबन्धक कौन है अज्ञान या अज्ञानका कार्य ? इसमें यदि पहला पक्ष मानो तो प्रश्न यह उठता है कि वह अज्ञान भी जीवका है या परमात्माका ? इसमें अन्तिम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ और निर्दोष परमात्माका अज्ञान हो नहीं सकता । अब रहा पहला पक्ष कि जीवके अज्ञानको प्रतिबन्धक मानना, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस जीवका परमात्माके साथ 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (इस जीवरूप आत्मासे प्रवेश करके) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंसे अभेद सिद्ध है ।

सिद्धान्ती—जीवका अज्ञान भी कल्पनामात्रसे ही है, वास्तवमें नहीं है।

पूर्व०—तब तो परमात्मामें भी यह दोष प्रसक्त होगा । कदाचित् यह कहो कि चिन्मात्रमें रहनेवाला अज्ञान सर्वात्मरूपसे आनन्दका आवरण करता ही है याने आनन्दका प्रतिबन्धक है, यह भी ठीक नहीं है, जब कि संसारदशामें अप्रतिबद्ध आनन्द है ही नहीं, तो फिर किसकी प्राप्तिसे प्रतिबन्धकी निवृत्ति होगी ? संसारकी प्राप्तिसे संसारकी निवृत्तिका तो सम्भव है ही नहीं ।

सिद्धा०—संसारदशामें भी अप्रतिबद्ध ही आनन्द है, परन्तु केवल अज्ञानसे उत्पन्न हुए द्वैतके अन्तःपाती (कुक्षिगत) शब्दादि विषयरूपी विषसे दुःखित हुआ और उन विषयोंके देखनेमें जिसका चित्त अतिलालसामें पड़ा

तद्दर्शनवेलायामपि अत्यन्तभावनासमुत्थापितविषयवड़िशाकृष्टहृदयस्य परमप्रियतमं जगदीश्वरं सर्वाङ्गप्रोततया अतिसन्निहितमपि आत्मानमीक्षितुं क्षणमलभमानस्य स्वग्रीवास्थग्रैवेयकाद्यनवधानवदनवधानमात्रमात्मनि प्रतिबन्धः, न वस्तुतः प्रतिबन्धोऽस्तीति वाच्यम्, तद्दर्शनरूपस्य प्रतिबन्धस्य आश्रयनिश्चयासामर्थ्यात्। तथा हि कोऽसौ द्वैतद्रष्टा? किं परमात्मा? किं वा जीवः? किं वा परः कश्चित्? नाद्यः, तस्य सर्वज्ञस्य भ्रमबीजाज्ञानाभावेन द्वैतदर्शनानुपपत्तेः; 'यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति सः' इति न्यायात् अज्ञानमिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानानां समानाधिकरणत्वनिश्चयेन अविद्यावत एव तत्सम्भवात्। अस्तु तर्हि जीवस्य अविद्यावतो द्वैतद्रष्टृत्वम्। न, तस्य परेण अभेदस्य

हुआ है उन विषयोंके देखनेके समय भी अत्यन्त भावनासे उत्पन्न विषयरूपी वड़िश (कांटे) से आकृष्ट हृदयवाला और परमप्रिय तथा सर्वाङ्गमें प्रोत होनेसे अतिसमीपवर्ती भी अपने आत्मस्वरूपसे जगदीश्वरको देखने का अवकाश न पाता हुआ जो अज्ञानी पुरुष है उसका अनवधानमात्र ही आत्मसाक्षात्कारमें प्रतिबन्धक है, वास्तविक कोई नहीं। जैसे कि अपने गलेमें पड़ी हुई मालाको भ्रमसे नहीं जाननेमें अनवधानता ही कारण है, ऐसे ही यहां भी जानो।

वादी—यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विषयदर्शनरूप जो प्रतिबन्ध है, उसमें आश्रयका निश्चय करनेकी सामर्थ्य नहीं है। उसीको कहते हैं—द्वैतका द्रष्टा कौन है परमात्मा है या जीव है अथवा और कोई तीसरा है? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ है भ्रमका बीजरूप जो अज्ञान है, उसका परमात्मामें सम्भव नहीं है, इसलिए द्वैतका द्रष्टा वह नहीं हो सकता। और कहा भी है कि 'यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य' (जिसको अज्ञान है उसीको भ्रम होता है और भ्रान्त हुआ पुरुष ही अच्छी तरह जानता भी है) इस प्रकार अज्ञान, मिथ्याज्ञान और यथार्थज्ञान—इनके समानाधिकरणत्वका निश्चय होनेके कारण अविद्यावालेमें ही इन सब बातोंका सम्भव है। कदाचित् यह कहो कि अविद्यावान् जो जीव है, वही द्वैतका द्रष्टा है। तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीवका परमात्माके साथ अभेद कहा है?

सिद्धा०—अभेद होनेपर भी बिम्ब-प्रतिबिम्बकी व्यवस्थासे सर्वज्ञत्व

उक्तत्वात्। न च अभेदेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बव्यवस्थया सर्वज्ञत्वद्वैतद्रष्टृत्वयोरुपपत्तिरिति वाच्यम्, वैषम्यात्।

तत्र हि पूर्वसिद्धे उपाधौ बिम्बप्रतिबिम्बभावानन्तरं प्रतीयमानयोर्मलिनत्वस्वच्छत्वयोर्व्यवस्थया उपपत्तिर्युक्ता, इह तु द्वैतदृष्ट्युत्थापितद्वैतस्यैव उपाधितया तदनुप्रवेशेन बिम्बप्रतिबिम्बभावकल्पनायां ततः पूर्वं द्रष्टृव्यवस्थापकानुपपत्तेः। न च अनादिसिद्धाऽज्ञानप्रतिबिम्बस्यापि अनादितया ततः पूर्वमिति पर्य्यनुयोगानुपपत्तिरिति वाच्यम्, अनादिसिद्धाऽज्ञानद्रष्टुरपि अनादिसिद्धस्यैव वक्तव्यत्वात्। न चाऽसौ वक्तुं शक्यः, न च साक्ष्येव तथा, तस्य सर्वज्ञस्य स्वाविद्याविरहेण तद्द्रष्टृत्वानुपपत्तेः।

और द्वैतद्रष्टृत्व ये दोनों बन सकते हैं। अर्थात् जैसे 'वही यह मुख है' इस प्रत्यभिज्ञासे बिम्ब और प्रतिबिम्बकी एकता यद्यपि सिद्ध है, तथापि श्यामता प्रतिबिम्बमें पाई जाती है और स्वच्छता बिम्बमें ? क्योंकि उपाधिको प्रतिबिम्बका पक्षपाती कहा है—ऐसे ही अज्ञानोपाधिक द्वैतदर्शन भी जीवका ही सम्भव है।

पूर्व०—यह तो दृष्टान्त विषम है, क्योंकि दृष्टान्तमें तो पूर्वसिद्ध उपाधिमें बिम्बप्रतिबिम्ब भावके अनन्तर प्रतीत होते हुये जो मलिनत्व और स्वच्छत्व हैं, उनकी तो व्यवस्थासे सङ्गति हो सकती है, परन्तु दार्ष्टान्तिकमें द्वैतदृष्टिसे उदित हुआ द्वैत ही उपाधिरूप है, इस कारण उसमें प्रवेश होनेके बाद बिम्बप्रतिबिम्बकी कल्पना होती है। इसके पहले द्रष्टाका व्यवस्थापक कोई नहीं है।

सिद्धा०—अज्ञान अनादिसिद्ध है, अतः उसमें जो प्रतिबिम्ब है वह भी अनादि ठहरा तो अब तुम्हारा यह प्रश्न बन नहीं सकता कि (बिम्बप्रतिबिम्ब भावसे पहले द्रष्टाकी व्यवस्था न होगी)।

पूर्व०—अनादिसिद्ध अज्ञानके द्रष्टाको भी तो अनादि ही कहना होगा, परन्तु यह बात अशक्य है।

सिद्धा०—इस तरहका तो साक्षी है, बस वही द्वैतद्रष्टा रहेगा।

पूर्व०—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि साक्षी सर्वज्ञ है, उसमें अविद्याका लेश नहीं है, अतएव वह द्रष्टा भी नहीं हो सकता।

न च सर्वज्ञस्यापि अन्याऽविद्याद्रष्टृत्वेन अविरोधः, स्वभिन्नाऽविद्या-द्रष्टृत्वेन परमात्मनो भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्; 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इति शास्त्रवि-रोधाच्च। न च सर्वज्ञत्वं नाम स्वरूपचैतन्येन स्वाध्यस्तसकलभासकत्वं तच्च अविद्यावत्त्वेऽपि न विरुध्यत इति वाच्यम्, 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुत्या अविद्याया अपि तत्र निषिद्धत्वात्। न च वस्तुभूताऽविद्यानिषेधः, न तु कल्पिताया अपि इति वाच्यम्, साधारणनिषेधात् वस्तुभूताऽविद्याऽप्रसिद्धेश्च; जीवस्य अविद्योत्तरभावितया अनादित्वानुपपत्तेः। अन्यथा अविद्यानिवृत्त्याऽपि जीवभावो न निवर्त्तेत। न तृतीयः, जीवपरमात्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यैव जड़त्वेन द्रष्टृत्वानुपपत्तेः।

न च उभयानुगतचित्सामान्यस्यैव द्रष्टृत्वमिति वाच्यम्, तथा च सति

सिद्धा०—सर्वज्ञके भी दूसरेकी अविद्याका द्रष्टा होनेमें कोई विरोध नहीं है।

पूर्व०—अपनेसे भिन्नकी अविद्याका द्रष्टा होनेपर परमात्मा भी भ्रान्त समझा जायगा और 'नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस श्रुतिसे विरोध भी आवेगा।

सिद्धा०—सर्वज्ञ नाम उसका है कि जो स्वरूप चैतन्यसे अपनेमें अध्यस्त समस्त प्रपञ्चका भासक है। इस दशामें अविद्यावान् होनेपर भी कुछ विरोध नहीं आ सकता।

पूर्व०—'निरवद्यं निरञ्जनम्' इस श्रुतिने अविद्याका भी तो वहां निषेध किया है।

सिद्धा०—वहांपर वास्तविक अविद्याका निषेध किया है, कल्पित अविद्याका नहीं।

पूर्व०—निषेध तो साधारणरूपसे है, चाहे वास्तविक हो चाहे कल्पित हो। और वास्तविक अविद्या अप्रसिद्ध भी है। जीव भी अविद्याके बाद होता है। अतएव वह अनादि नहीं हो सकता। अन्यथा अविद्याके निवृत्त होनेपर भी जीवभाव निवृत्त नहीं होगा, एवं पहले कहे हुए तीन पक्षोंमें से तीसरा जो पक्ष है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और परमात्मासे भिन्न समस्त जगत् जड़ है, वह द्रष्टा नहीं हो सकता।

सिद्धा०—जीव और परमात्माके अनुगत चित्सामान्य ही द्रष्टा है।

वादी०—यदि ऐसा है तो अविद्या भी उसी सामान्य चेतनमें कहनी

अविद्याया अपि तत्रैव वक्तव्यतया जीवस्य निरवद्यस्य अभ्रान्तस्य परमात्मवत् नित्यमुक्तत्वसर्वज्ञत्वाद्यापत्तिः; उपाधिसिध्युत्तरकालीनत्वाच्च त्रितयविभागस्य। न च अविद्यानङ्गीकारे तद्विषयकप्रश्नाक्षेपानुपपत्त्या तवैव प्रष्टुराक्षेप्तुर्वा अविद्याद्रष्टृत्वं युक्तमिति वाच्यम्, तस्यैव ममापि अविद्याद्रष्टुः स्वरूपस्य इदानीं त्वया तत्त्वनिर्णयार्थं वक्तव्यत्वात्। न च यस्त्वं स्वात्मस्वरूपमपि न जानासि 'अयमहमिदं पृच्छामि' इति तस्य तव प्रश्न एव कथं स्यात् इति वाच्यम्, प्रश्नविषयाज्ञाने सत्येव प्रश्नोपपत्तेः; अन्यथा प्रष्टव्यार्थज्ञानाज्ञानविकल्पेन प्रश्नाभावेन

होगी। तब तो जीव भी परमात्माके समान निर्दोष, अभ्रान्त, नित्यमुक्त और सर्वज्ञ कहलायेगा और सामान्य चैतन्यको द्रष्टा माननेमें अन्योन्याश्रय दोष भी आता है, क्योंकि चैतन्यमात्रके द्रष्टा होनेपर उसकी अधीनतासे उपाधि अज्ञानकी सिद्धि होगी और उस अज्ञानसे निरूपित ही बिम्बप्रतिबिम्बनामक ब्रह्म और जीव इन दो प्रकारोंसे अपेक्षित तीसरे प्रकारकी सिद्धि होगी [अर्थात् उपाधि जो अज्ञान है उसकी सिद्धि हो जानेके बाद बिम्बप्रतिबिम्ब और उससे अपेक्षित तीसरेकी सिद्धि होती है और इनसे अज्ञानकी सिद्धि होती है बस यही अन्योन्याश्रय हुआ।] अतएव यह पक्ष ठीक नहीं है।

सिद्धा०—अविद्याके न माननेपर अविद्याविषयक प्रश्न और आक्षेप करना नहीं बनता। परन्तु प्रश्न तुमने किया ही है कि (द्वैतका द्रष्टा कौन है) अतः अविद्याका पूछनेवाला या आक्षेप करनेवाला ही अविद्याका द्रष्टा है अर्थात् जो तुम प्रश्नकर रहे हो, वह तुम ही इसके द्रष्टा हो।

वादी०—अच्छा जब मैं ही अविद्याका द्रष्टा हूँ, तब मेरे स्वरूपको बतलाओ जिससे तत्त्व निर्णय हो जाय।

सिद्धा०—'यह मैं हूँ और इस बातको पूछ रहा हूँ' इस तरह जो तुम अपने स्वरूपको ही नहीं जानते हो तो तुम्हारा प्रश्न ही कैसे हो सकता है [अर्थात् प्रश्नविषयको न जाननेपर तद्विषयक शब्दका प्रयोग करना अयुक्त है]।

पूर्व०—प्रश्नविषयको न जाननेपर ही तो प्रश्न बनता है, नहीं तो प्रष्टव्य (पूछने योग्य) वस्तुके ज्ञान अज्ञानका विकल्प करनेसे प्रश्नका ही अभाव

'नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चाऽन्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् ॥'

इति न्यायेन स्वयं वक्तुमशक्यतया सर्वं शास्त्रमरण्यरुदितं स्यात् ।

न च प्रश्नविषयापरिज्ञाने कथं तद्विषयकशब्दरचना, नहि संसर्गमज्ञात्वा शब्दरचना नामेति प्रसिद्धिरिति वाच्यम्, स्तोभशब्दवत् सार्थकस्यापि शब्दस्य तत्स्वरूपज्ञानादेव रचनोपपत्तेः; सर्वत्र शब्दस्वरूपज्ञानस्यैव शब्द-रचनाहेतुत्वात् संसर्गज्ञानस्य च शब्दरचनाहेतुत्वेन प्रसिद्ध्योपात्तस्य प्रमाणशब्दप्रामाण्यप्रयोजकतया अन्यथासिद्धेः । न च देहादीनां बुद्धिपर्यन्तानामहम्प्रत्ययालम्बनीभूतानामितरानात्मव्यावृत्ततया प्रतीयमा-नानां मध्ये अन्यतमं तत्समुदायो वा तव स्वरूपमिति वाच्यम्,

---

हो जायगा । एवं शास्त्र अरण्यरोदनके समान ठहरेगा, क्योंकि 'नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' (विना पूछे किसीसे कुछ न कहे और अन्यायसे—छलसे यदि कोई कुछ पूछे तो भी कुछ न कहे, किन्तु जानता हुआ भी बुद्धिमान् पुरुष जड़के तुल्य लोकमें आचरण करे), इस न्यायसे भी स्वयं तो कहा नहीं जा सकता और प्रश्न करनेपर तुम्हारे कथनानुसार प्रश्न बनता नहीं । इसलिए शास्त्र अरण्यरोदनप्राय हो जायगा ।

सिद्धा०—अच्छा तुम ही कहो कि प्रश्नविषयके न जाननेपर तद्विषयक शब्दरचना कैसे हो सकती है, क्योंकि शब्दसम्बन्धके जाने विना शब्द-रचना हो ही नहीं सकती, यह लोकप्रसिद्ध बात है 'जैसे कि लोकमें कोई घटशब्दका सम्बन्ध कम्बुग्रीवादिवाली व्यक्तिके साथ है, इस बातको जानता है तभी उसके बारेमें प्रश्न करता है, सम्बन्धके जाने विना प्रश्न कर ही नहीं सकता ।

पूर्व०—शब्दके सम्बन्धके जाने विना भी शब्दरचना हो सकती है । जैसे कि हुम्, फट्, इत्यादि शब्दोंकी रचना होती है, वैसे ही सार्थक शब्दोंकी रचना भी शब्दस्वरूपके ज्ञानमात्रसे हो सकती है, संसर्गज्ञान शब्दरचनामें कारण नहीं है । और जो लोकप्रसिद्धिसे संसर्गज्ञानको कारण कहा है वह तो शब्दप्रमाणके प्रामाण्यका प्रयोजक होनेसे अन्यथासिद्ध है ।

सिद्धा०—देह आदिसे लेकर बुद्धिपर्यन्त जो अहंप्रतीतिके आलम्बन (आश्रय) हैं और अपनेसे भिन्न जड़के व्यावर्त्तकरूपसे प्रतीत हो रहे हैं

तेषामपि अज्ञानकार्याणा मद्भोगोपकरणतया मम प्रत्ययविषयाणां छत्रचामरादीतरभोगसाधनवन्मदुपसर्जनतया प्रतीयमानानां प्रत्येक-समुदाययोः कार्यकारणविलक्षणाऽहेयानुपादेयस्वभावमप्रत्ययाविषयपरम-प्रियतमस्वातिरिक्तसर्वावभासकसर्वदाऽव्यभिचार्यात्मवस्तुस्वरूपत्वानुपपत्तेः।

इनमें से कोई एक तेरा स्वरूप है या समुदाय तेरा स्वरूप है *।

पूर्वपक्षी—ये देहादि बुद्धिपर्यन्त भी अज्ञानके कार्य हैं और मेरे भोग-साधन होनेसे (मम) ऐसी प्रतीतिके विषय हैं; जैसे छत्र, चवर इत्यादि भोग के साधन हैं, वैसे ही ये भी भोग्यरूपसे प्रतीत हो रहे हैं इनमेंसे प्रत्येक अथवा समुदाय आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा कार्यकारणसे विलक्षण है और यह आत्मा न तो हेय (त्याज्य) है और न उपादेय (ग्राह्य) ही है, किन्तु (मम) इस प्रतीतिका अविषय है, परम प्रियतम (प्यारा) है, अपनेसे भिन्न बुद्ध्यादि देहपर्यन्तका प्रकाशक है और हमेशा अव्यभिचारी (एकरस) है। इसलिए प्रत्येक अथवा समुदायको आत्मा कहना अनुपपन्न है।

---

* यहांपर तात्पर्य यह है कि शरीरको आत्मा माननेवाले चार्वाकका कहना है कि शरीर त्वक् इन्द्रियके आधारका नाम है और 'अहं मनुष्यः' इस प्रतीतिसे अहन्त्व और मनुष्यत्वका एक अधिकरण प्रतीत होता है और मनुष्यत्व का देहमें ही सम्भव है, इसलिए शरीर ही आत्मा है। कदाचित् कहो कि 'मम इदं शरीरम्' (मेरा यह शरीर है) इस प्रतीतिसे भोक्तासे भिन्न भोग्यरूपसे शरीर प्रतीत होता है, जैसे कि माला, चन्दन, पुष्पादि विषय हैं, तो यह कदापि नहीं कह सकते, इसलिए पूर्वोक्त प्रतीतिको उपचारसे जानना चाहिये, किन्तु शरीर ही आत्मा है। यह स्थूल दृष्टिवालोंका कहना है और कोई यह कहते हैं कि इन्द्रिय आत्मा है शरीर नहीं, क्योंकि इन्द्रियोंका ज्ञानके साथ अन्वयव्यतिरेक है 'अर्थात् इन्द्रियोंके होनेपर ज्ञानका होना और उनके न होनेपर ज्ञानका न होना' एवं ज्ञानकारणत्वसे उपादान भी इन्द्रियां होंगी बस वही आत्मा है। और भी युक्ति है कि 'अहं काणः अहं बधिरः' इत्यादि प्रतीतिके आश्रय भी इन्द्रिय है, इसलिए वही आत्मा है। दूसरे लोग कहते हैं कि स्वप्नमें इन्द्रियोंका उपराम हो जानेपर भी मनकी वृत्तिधारा बनी रहती है अतएव 'अहं मनः' यह प्रतीति होती है, इसलिये मन आत्मा है। और विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि विज्ञान (बुद्धि) से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है मन भी एक विज्ञानका ही आकार है और वह क्षणिक है अर्थात् क्षण २ में बदलता रहता है। इस प्रकार देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त अहंप्रतीतिके आश्रयोंको वादियोंने आत्मा माना है।

न च देहादिबुद्धिपर्यन्तेभ्यो यत् स्वरूपं त्वया परिशेषितम्, तदेव तव स्वरूपमिति गृहाणेति वाच्यम्, तस्याऽपि अज्ञातत्वात्। न चाऽज्ञानं परित्यज्य तद्विषयस्वरूपमात्रं प्रत्यक्तत्त्वं ग्राह्यमिति वाच्यम्, तस्यापि जीवेश्वरतद्भिन्नत्वादिरूपेण निर्णेतुमशक्यतया सन्देहाक्रान्तत्वात्। न च-किन्नाम निर्णयेन ? वस्तुस्वरूपन्तु निर्णीतमेवेति वाच्यम्, अशेषविशेषेण तत्त्व-बुभुत्सुं प्रति एतस्य अनुत्तरत्वात। न च सामान्यविशेषशून्ये विशेष-बुभुत्सैव अनुपपन्नेति वाच्यम्, तस्यैव सामान्यविशेषशून्यस्य वक्तव्य-त्वापत्तेः, न चाज्ञानव्यतिरिक्ततया निश्चिते स्वरूपे सन्देह एव न उपपद्यत

सिद्धा०—अच्छा तो देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त जो पदार्थ हैं, उनसे शेष जो तुमने रक्खा है, उसीको तुम अपना स्वरूप जानो।

पूर्व०—वह भी तो अज्ञात है।

सिद्धा०—अज्ञानको छोड़कर अज्ञानका विषय केवल स्वरूपमात्र जो प्रत्यक्तत्त्व है, उसका ग्रहण कर लो।

पूर्व०—उस प्रत्यक्चैतन्यका भी सन्देहयुक्त होनेके कारण जीवेश्वर-भिन्नरूपसे निर्णय करना अशक्य है।

सिद्धा०—अब निर्णयकी क्या आवश्यकता है ? वस्तुका स्वरूप तो निश्चित हो चुका [अर्थात् जब तुमने ही देहादि अज्ञानान्तसे भिन्न स्वरूपको शेष मान लिया तो अब उसमें सन्देहकी क्या बात है]।

पूर्व०—जो विशेषरूपसे तत्त्वको जानना चाहता है, उसके प्रति यह उत्तर ठीक नहीं है।

सिद्धा०—आत्मामें सामान्यविशेषता क्या है, वह तो इन दोनोंसे रहित है और उसके बारेमें विशेष जाननेकी इच्छा भी अनुपपन्न है।

पूर्व०—उस सामान्यविशेषशून्यको ही कहना पड़ेगा।

सिद्धा०—जब कि अज्ञानसे भिन्न स्वरूपका निर्णय तुमने ही कर दिया फिर सन्देह ही कहाँ हो सकता है ? इस दशामें जिज्ञासा करना अयोग्य है। प्रश्न भी निरर्थक है।

इति वाच्यम्, अज्ञानस्य अद्यापि अनिवृत्तत्वाद्। स्थिते एव अज्ञाने विवेकदृष्ट्या तद्विविक्तस्वरूपनिर्णयेऽपि तेनैवाऽज्ञानेन विषयीकृते सन्देहोपपत्तेः। न च अध्यस्ताज्ञानस्वरूपे स्थिते तदधिष्ठानस्य आत्मनो विवेकोऽशक्य एव, अधिष्ठानभेदेन अध्यस्तस्य पृथक्स्वरूपाभावात्। ततो यदि विवेकदृष्ट्या अधिष्ठानस्वरूपमात्मतत्त्वं निश्चितम्, तदा तत्र अध्यस्तमज्ञानं तत्कार्यं वा ? ततो भेदेन तत्र नास्ति इति अवधार्य विनिश्चेतव्यम्। तथा च तत्र अज्ञानविरहात् सन्देहानुपपत्त्या प्रश्नानुपपत्तिरेव इति वाच्यम्।

एतावता अपि द्वैतद्रष्टुरव्युत्पादनात् नहि शुद्धस्य कूटस्थस्य द्वैतद्रष्टृत्वमुपपद्यते, मोक्षकालेऽपि द्वैतदर्शनप्रसङ्गात्। ननु मोक्षस्य नित्यत्वेन

पूर्व०—सन्देह तो हो सकता है, क्योंकि अभी अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ। यद्यपि विवेकदृष्टिसे आत्माका विविक्त स्वरूप निश्चित हो भी गया, तो भी उस अज्ञानका विषय जो आत्मा है, उसमें सन्देह हो सकता है।

अर्थात् विवेकज्ञान अन्वयादिजन्य ही होता है अत एव वह परोक्ष माना जाता है। इस दशामें वह अपरोक्ष संशयका निवर्त्तक नहीं हो सकता।

सिद्धा०—आत्मामें अध्यस्त जो अज्ञान है, उसका स्वरूप यदि स्थित है, तो अधिष्ठान आत्माका विवेक होना भी अशक्य रहेगा, क्योंकि अधिष्ठानभेदसे अध्यस्तका स्वरूप पृथक् नहीं रहता। अर्थात् अध्यस्तके रहते अधिष्ठानका ज्ञान नहीं हो सकता, अब यदि विवेकदृष्टिसे अधिष्ठानस्वरूप आत्मतत्त्वका निर्णय कर लिया तो वहांपर अध्यस्त जो अज्ञान और उसका कार्य है, वह 'अधिष्ठानसे भिन्नरूपसे नहीं है' ऐसा निश्चय करके विचार करनेपर वहांपर उस अज्ञानका अभाव ही मिलेगा बस उसके अभावसे संशय उत्पन्न नहीं हो सकता, अत एव प्रश्न भी अनुपपन्न है।

शिष्य—इतना कहनेपर भी द्वैतद्रष्टाका अभी निर्णय न हुआ, क्योंकि शुद्ध जो कूटस्थ है वह द्वैतका द्रष्टा नहीं हो सकता। यदि ऐसा ही मानो, तो मोक्षकालमें भी द्वैतका दर्शन रहेगा।

गुरु—यह तुमने क्या कहा, क्या मोक्षका भी कोई काल हुआ करता है ! मोक्ष तो नित्य है। वह सर्वदा विद्यमान है। बस, सभी काल मोक्षके काल

सर्वदा सत्त्वात् सर्वो हि कालो मोक्षकाल एव 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इति शास्त्रात्, अन्यथा मोक्षस्य कादाचित्कत्वेन अनित्यत्वप्रसङ्गः, तथा च मोक्षकाले द्वैतदर्शनप्रसङ्गो न अनिष्टः, इदानीं तद्दर्शनादिति चेत्, न; सार्वलौकिकानुभव-विरोधात्। नहि द्वैतदर्शनकाले कश्चन मोक्षमनुभवति। नहि सर्वलोकवि-रुद्धमर्थं श्रुतिरपि प्रतिपादयति; अन्यथा शिलाप्लवनवाक्यानामपि स्वार्थे प्रामाण्यप्रसङ्गः। ततो न सर्वः कालो मोक्षकालः, सर्वलोकानुभवविरोधा-दिति। हन्त तर्हि ये सर्वेऽनुभवितारस्ते एव द्वैतद्रष्टारस्त्वयैव निश्चिताः। तथा च स्वाधीननिश्चये द्वैतद्रष्टरि कः प्रश्नः।

किमतः? इदमतो भवति एतेषां यद् द्वैतदर्शनं तदेव सच्चिदानन्दपरि-पूर्णात्मस्वरूपमोक्षाविर्भावप्रतिबन्धकमिति गृहाण। अस्तु तर्हि तेषां प्रति-

---

ठहरे शास्त्रमें भी कहा है कि 'विमुक्तश्च विमुच्यते' अर्थात् मुक्त हुआ ही मुक्त होता है इत्यादि, अन्यथा मोक्षको कदाचित् कालमें माननेसे वह अनित्य ठहरेगा। इसलिए मोक्षकालमें द्वैतदर्शन होनेका जो तुमने दोष दिखाया है वह कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि अब भी तो द्वैतका दर्शन हो रहा है, इससे आत्माकी हानि क्या?

शिष्य—यह तो ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि इसमें समस्त लोगोंके अनुभवसे विरोध आता है, कारण कि द्वैतदर्शनके समय कोई भी मोक्षका अनुभव नहीं करता, एवं समस्त लोकविरुद्ध अर्थको श्रुति भी नहीं कह सकती है। अन्यथा शिलाप्लवनका (जलमें शिलाके तैरनेका) प्रतिपादन करनेवाले वाक्य भी अपने अर्थमें प्रामाणिक समझे जायँगे। इसलिये सभी काल मोक्षकाल है, यह कहना ठीक नहीं है। इससे समस्त लोकके अनुभवसे विरोध आता है।

गुरु—हन्त, जो ये सब द्वैतका अनुभव कर रहे हैं, वे ही द्वैतद्रष्टा हैं, यह बात तो तूने ही निश्चित कर ली। जब कि द्वैतद्रष्टाका निश्चय स्वाधीन रहा, तो फिर प्रश्न ही क्या?

शिष्य—इससे क्या बात सिद्ध हुई?

गुरु—यह बात सिद्ध हुई कि इनका जो द्वैतदर्शन है, बस, वही सत्-चित् आनन्द परिपूर्ण आत्मस्वरूपके मोक्षाविर्भाव (प्रकट) में प्रतिबन्धक

बन्धो मम द्वैताद्रष्टुः कुतो न मोक्ष आविर्भवतीति चेत्, तर्हि त्वं किमेतेभ्यो भिन्नो येन द्वैताद्रष्टृत्वं भवेत्। कः संशयः ? नहि तानात्मत्वेन अनुभवामि, तेषां सुखदुःखादीनां मम लेपाभावात्।

अहो आश्चर्य्यम्!ताननेकविधानेव देवतिर्य्यङ्मनुष्यादिभेदभिन्नान् पश्यन् द्वैतं न पश्यामीति वदतस्ते वचः कथं श्रद्धेयं स्यात्, नहि मुमुक्षोः सन्न्यासिनस्तत्त्वबुभुत्सोरिदमुचितं यदसत्याभिधानमिति। ननु त्वत्तोऽभिन्न एव अहम्, तथा च मम असत्याभिधानमापादयतस्तवैव असत्याभिधानमायातीति चेत्, तर्हि कोऽहं त्वया आत्मत्वेन दृष्टः ? किं सद्वितीयोऽद्वितीयो वा ?

(विघ्न) है ['अर्थात् मोक्ष तो बना बनाया है, सिर्फ द्वैतदर्शन ही उसमें प्रतिबन्धक (विघ्न) हो रहा है]।

शिष्य—खैर, उन द्वैत देखनेवालोंको मोक्षका प्रतिबन्ध रहे, परन्तु मैं जो द्वैतका अद्रष्टा हूँ मुझको मोक्षका आविर्भाव क्यों नहीं होता।

गुरु—क्या तू इनसे भिन्न है, जिससे कि द्वैतका अद्रष्टा रह सके।

शिष्य—इसमें क्या सन्देह है ? मैं इन द्वैतद्रष्टाओंका आत्मरूपसे अनुभव नहीं करता, क्योंकि इनको जो सुख-दुःख होते हैं उनका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है [अर्थात् यदि इन द्वैतद्रष्टाओंसे मैं भिन्न न होता, तो इनके सुख-दुःखका भान मुझे होता]।

गुरु—अहो बड़ी आश्चर्यकी बात है ! अनेक प्रकारके देवता, पशु, मनुष्य आदि भेदसे भिन्न उन प्राणियोंको देखता हुआ भी मैं द्वैतको नहीं देखता ऐसा कहते हुए तेरा कैसे विश्वास हो ? तत्त्व जाननेकी इच्छावाले—मुमुक्षु तथा सन्न्यासी को ऐसा मिथ्या वचन नहीं कहना चाहिये।

शिष्य—यह उलहना आप मुझे क्यों देते हैं, मैं तो आपसे अभिन्न हूँ मुझको असत्यभाषणका दोष लगानेसे तो उलटे आपपर ही यह दोष आता है [अर्थात् मैं जब मिथ्यावादी ठहरा तो आप भी वही सिद्ध हुए, क्योंकि मैं और आप एक ही हैं]।

गुरु—जिस मुझको तूने आत्मरूपसे देखा, वह मैं क्या सद्वितीय हूँ या अद्वितीय ? इसमें यदि पहला पक्ष है, तो यह भी और एक दोष आ

यदि आद्यस्तर्हि अयमपि अपरो दोषो यत्त्वं विद्वांसं तवैव आचार्यं मां ब्रह्मरूपेण पर्य्यवसितं द्वैतवार्त्तानभिज्ञं सद्वितीयं कल्पयसि 'एकमेवाऽद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति शास्त्रविरोधश्च। अस्तु तर्हि अद्वितीयपक्षः; उक्तदोषविरहादिति चेत्; हन्त तर्हि कुतो मामद्वितीयमात्मत्वेन ज्ञातवानसि। त्वद्वचनात् उदाहृतशास्त्राच्चेति चेत्, एवं तर्हि प्रबुद्धोऽसि न अतः परं प्रष्टव्यमस्ति। नहि आत्मनि विदितेऽपरमविदितं वस्तु अस्ति यत् प्रष्टव्यं स्यात्। अस्त्यनात्मेति चेत्, नः 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रुत्या मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्' इति श्रुत्या आत्मदर्शनेन इतरत् सर्वं दृष्टं भवतीति उक्तत्वात्। ननु इदमनुपपन्नं यदात्मदर्शनेन इतरत् सर्वं दृष्टं भवतीति। कुत इति चेत्, तथा हि किमितरत्सर्वमात्मनो भिन्नमभिन्नं वा ?

पड़ा, जो कि तू विद्वान् अपने आचार्य, ब्रह्मरूपसे निर्णीत और द्वैतवार्ताके अनभिज्ञ ऐसे मुझको सद्वितीय कहता है और फिर 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस शास्त्रसे विरोध भी आता है ['अर्थात् शास्त्र अद्वितीयको कहता है और तू सद्वितीयकी कल्पना करता है]।

शिष्य—अच्छा तो द्वितीय पक्ष ही सही, इसमें पूर्वोक्त दोष भी नहीं आते।

गुरु—हमको तूने आत्मरूपसे कैसे जाना ?

शिष्य—भगवन्, आपके ही वचनोंसे और आपने प्रमाणरूपमें जो शास्त्रके वचन दिये हैं, उनसे भी जाना।

गुरु—यदि ऐसा है, तो अब तू प्रबुद्ध (जानकार) हो गया। बस, अब कुछ पूछना न रहा; क्योंकि आत्माके जान लेनेपर और कोई अविदित (अज्ञात) नहीं रहता, जिसके बारेमें कुछ पूछा जाय।

शिष्य—आत्मासे भिन्न अनात्मा भी तो है।

गुरु—नहीं है। देखो श्रुति क्या कहती है 'आत्मनो वा०' (अरे मैत्रेयी, आत्माके दर्शनसे, श्रवणसे, मननसे और विज्ञानसे यह सब विदित हो जाता है, इस श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है कि आत्मदर्शनसे सब दृष्ट हो जाता है।

शिष्य—यह तो उचित बात नहीं है, जो कि केवल आत्मदर्शनसे और सब दृष्ट हो जाय।

गुरु—कैसे ?

नाद्यः, अन्यदर्शनेन अन्यस्य द्रष्टुमशक्यत्वात्। नहि घटे दृष्टे पटो दृष्टो भवतीति शक्यं वक्तुम्, अन्यथा तयोरभेदापत्तेः। न द्वितीयः, आत्मानात्मनोर्विरोधात्। परमार्थसत्यात्माऽभिन्नस्य 'नेति नेति' इत्यादिना निषेद्धुमशक्यतया बाधानुपपत्तेश्च, अन्यथा आत्मनोऽपि बाधिततया शून्यमेव अवशिष्येत। तस्मात् आत्मदर्शनेन सर्वमेव दृष्टं भवति इति अनुपपन्नम्। नैष दोषः।

आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नाऽन्या यतस्ततः।
आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥५६॥

आत्मसत्तातिरिक्ताया द्वैतसत्ताया अभावात् आत्मनि दृष्टे सर्वं द्वैतं दृष्टं भवति—यथा रज्जुस्वरूपे दृष्टे तत्र अध्यस्तानां स्रग्दण्डादीनां स्वरूपं दृष्टं भवति, तद्वत् आत्मनि दृष्टे सर्वं दृष्टं भवतीति न अनुपपन्नम्।

शिष्य—अन्य समस्त वस्तु आत्मासे भिन्न है या अभिन्न ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य वस्तुके देखनेसे अन्य वस्तुका दीख जाना संभव नहीं है, जैसे कि घटके देखनेसे पट भी दीख जाता है, यह नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा ही हो, तो घट और पट इन दोनोंकी अभेदापत्ति हो जायगी। एवं दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा और अनात्माका आपसमें विरोध है और परमार्थ सत्य जो आत्मा है उससे अभिन्नका 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे निषेध न होनेसे बाधकी भी अनुपपत्ति होगी। अन्यथा आत्माके भी बाधित हो जानेसे शून्य ही शेष रहेगा, इसलिए आत्माके देख लेनेसे सब दीख जाता है, यह कहना अयोग्य है; 'नैष दोषः' गुरु कहते हैं यह दोष नहीं आ सकता। सुनो,

आत्मसत्ता ही द्वैतकी सत्ता है, उससे भिन्न नहीं, इसलिए आत्माके दृष्ट और श्रुत होनेपर सम्पूर्ण जगत् दृष्ट और श्रुत हो जाता है ॥ ५६ ॥

आत्मसत्तासे भिन्न द्वैतकी सत्ता कुछ नहीं है, इसलिए आत्माके देख लेनेपर सभी द्वैत दीख जाता है, जैसे कि रज्जुस्वरूप देख लेनेपर उसमें अध्यस्त धारा, माला, दण्ड इत्यादिका स्वरूप दीख जाता है, वैसे ही आत्माके देख लेनेपर सभी वस्तु दृष्ट हो जाती है। यह कथन कुछ अयुक्त भी नहीं है।

अत एव विधिनिषेधशास्त्रयोरपि न अनुपपत्तिः। तत् यथा—'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति'। 'यत्र तु अस्य सर्वमात्मैवाभूत्' 'नारायण एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यादिविधिशास्त्रं तथा निषेधशास्त्रमपि 'नेह नानास्ति किञ्चनेति' 'अथात आदेशो नेति नेति' 'नहि एतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति' 'अतोऽन्यदार्तम्' 'न तु तत् द्वितीयमस्ति' 'नैवेह किञ्चन अग्र आसीत्' 'नासदासीन्नोऽसदासीत्' इत्यादि। भवति हि लोके रज्ज्वां स्रगाद्यध्यासिनं प्रत्युपदेशः—'इदं सर्वं रज्जुरिति न इह स्रगादिरस्ति' इति, तथापि उभयोरुपदेशयोर्मध्ये कतरः श्रेयानिति चेत्, यद्यपि उभयोरेकार्थत्वमेव तथापि विधेरस्ति कश्चित् अतिशयः।

अतएव विधि और निषेधवाक्योंकी भी अनुपपत्ति नहीं है। उसीको दिखाते हैं कि 'इदं सर्वं यदमात्मा' (यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सब आत्मा ही है) 'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे सोम्य, यह जगत् पहले सत् रूप, एक और अद्वितीय था। अर्थात् सजातीय विजातीय और स्वगतभेदसे शून्य था) 'ब्रह्म वा०' (यह पहले ब्रह्म ही था) 'अहं मनुरभवम्०' (मैं ही मनु हुआ और मैं ही सूर्य हुआ) 'यत्र तु०' (जिस निर्विशेष अवस्थामें इसको सब आत्मा ही प्रतीत होता है तो फिर किससे किसको देखे) 'नारायण एव' (जो कुछ हो चुका है और होनेवाला है, यह सब नारायण ही है) इत्यादि श्रुतिवचन तो विधिशास्त्र कहलाते हैं। और निषेधशास्त्र भी हैं, उनको क्रमशः दिखाते हैं—'नेह नानास्ति किञ्चन०' (इसमें कुछ भी नाना वस्तु नहीं है) 'अथात आदेशो०' (यह वेद भगवान्का आदेश है कि नेति नेति), 'नहि एतस्मात्०' (इस आत्मा वस्तुसे परे कुछ भी वस्तु नहीं है), 'अतोऽन्यदार्तम्' (इससे भिन्न सब आर्तरूप है—मिथ्या है) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (उससे द्वितीय —भिन्न नहीं है) 'नैवेह किञ्चन०' (पहले यह कुछ भी नहीं था न सत् था और न असत् था, अर्थात् कार्य-कारणरूप कुछ नहीं था) इत्यादि। और लोकमें भी देखा जाता है कि रज्जुमें माला, सर्प इत्यादिका अध्यास करनेवालेके प्रति यही उपदेश होता है कि यह सब रज्जु है, इसमें माला, सर्प इत्यादि कुछ नहीं है।

तत्र हि परिदृश्यमानानां या सत्ता सा आत्मैव इति उक्ते तदन्यत् नास्त्येव। आत्मैव परिपूर्ण इति ज्ञानं साक्षादेव आविर्भवति, निषेधे तु अर्थात् निषेधाधिष्ठानतया। कथं तर्हि उभयप्रवृत्तिः विधिनैव पुरुषार्थस्य पर्य्यवसितत्वादिति चेत्, न; अधिकारिभेदेन उभयोरुपयोगात्। कश्चिद्धि संसारदुःखेन अत्यन्तमुपहतचेतास्तन्निवृत्तिमेव प्रथमतः कामयते तं प्रति आदौ निषेधवाक्यमेव उपयुक्तं विधिवाक्यं तु पश्चात् यथा सर्पमारोप्य भिया कम्पमानं प्रति 'नायं सर्पः' इति निषेध एव आदौ न तु विधिः। यस्तु अत्यन्तमनुद्विग्नः किमस्य जगतस्तत्त्वमिति एवं जिज्ञासते तं प्रति 'इदं सर्वं यत् अयमात्मा' इत्येव उत्तरं न्याय्यम्, निषेधस्तु पश्चात्।

यथा सर्पमध्यस्य तत् प्रतीकारज्ञानान्निर्भयः पृच्छति—किमिदं पुरोव-

---

शिष्य—तथापि विधि और निषेध इन दोनों उपदेशोंमें से कौन श्रेष्ठ है?

गुरु—यद्यपि इन दोनोंका तात्पर्य एक ही है, तथापि विधिरूप उपदेशकी कुछ विलक्षणता अवश्य है, क्योंकि 'वहाँपर दृश्यमान वस्तुओंकी जो जो सत्ता है वे सब आत्मा ही है' ऐसा कहनेपर आत्मासे भिन्न कोई चीज नहीं है, आत्मा ही एक परिपूर्ण है, इस प्रकारका ज्ञान साक्षात् हो जाता है।

शिष्य—जब कि विधिसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि हो जाती है, तो फिर निषेध-वाक्योंकी प्रवृत्ति क्यों हुई?

गुरु—यह मत कहो, क्योंकि अधिकारियोंके भेदसे दोनोंका उपयोग किया जाता है। कोई तो संसारके दुःखसे अत्यन्त दुःखी होता हुआ पहले ही उसकी निवृत्ति चाहता है, उसके लिए तो निषेधवाक्य ही उपयुक्त हैं और विधिवाक्य पश्चात् प्रयुक्त किये जाते हैं, जैसे कि रज्जुमें सर्पका आरोप करके भयसे कांपते हुए पुरुषके प्रति (नायं सर्पः) यह सर्प नहीं है, इस प्रकार पहले निषेध ही करना होता है, विधि नहीं। और जो संसारसे अत्यन्त उद्विग्न नहीं है, किन्तु यह जानना चाहता है कि इस जगत्का तत्त्व क्या है, तो उसके प्रति यही कथन उचित है कि यह सब जगत् आत्मा ही है इत्यादि और निषेध वाक्य पीछे होगा 'अर्थात् पहले विधि पीछे निषेध' जैसे कि सर्पका अध्यास करके उसके अपायज्ञानसे निर्भय होकर पूछता है कि यह

र्त्तीति तं प्रति रज्जुः इत्येव उत्तरं न तु निषेधः । तस्मात् अवस्थाभेदेन उभयोरुपयोगात् न कस्यापि वैयर्थ्यमतो विधिनिषेधाभ्यां परिपूर्णसच्चिदानन्दः प्रत्यगात्मेति सिद्धम् ।

ननु तथापि कोऽसौ द्वैतद्रष्टेति अद्यापि न निश्चितम् इति चेत्, यस्त्वं पृच्छसि । कोऽहमिति चेत्, ब्रह्मैव । एवं तर्हि ब्रह्मणो विकारित्वापत्तिरिति चेत्, कोऽयं विकारो द्वैतं तद्दृष्टिर्वा । नाद्यः, द्वैतस्य सर्वस्य ब्रह्मातिरिक्तस्य निषिद्धत्वात् । नहि यत् नास्ति, तत् कस्यचित् परिणामः, यथा नरशृङ्गम् । ततोऽस्य वैलक्षण्यं दृष्टिरेव इति चेत् ? तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन दृष्टिरेव परिणामोऽस्तु, तदतिरिक्तदृश्याभावात् ।

सामने क्या चीज है, तो उसके प्रति 'रज्जु है' ऐसा ही उत्तर देना होता है, निषेध नहीं । इस तरह अवस्थाभेदसे दोनोंका उपयोग करना होता है । कोई व्यर्थ नहीं है, अतः विधि और निषेध वाक्योंसे परिपूर्ण सच्चिदानन्द प्रत्यगात्मा सिद्ध होता है ।

शिष्य—तथापि द्वैतका द्रष्टा कौन है, अभी यह निर्णय नहीं हुआ ।

गुरु—जो तू पूछ रहा है ।

शिष्य—मैं कौन हूँ ।

गुरु—तू ब्रह्म है ।

शिष्य—तब तो ब्रह्म विकारवाला हो जायगा ।

गुरु—विकार क्या चीज है ? द्वैतको विकार कहते हो या द्वैतदृष्टिको ? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त समस्त द्वैतका निषेध हो चुका है । फिर द्वैत कहां रहा जो चीज है ही नहीं वह किसीकी परिणाम भी नहीं हो सकती; जैसे कि मनुष्यका सींग ।

शिष्य—मनुष्यके सींगसे प्रपञ्चमें विलक्षणता है, क्योंकि प्रपञ्चकी दृष्टि होती है [अर्थात् प्रपञ्चकी अपरोक्षप्रतीति होती है, पर नरशृंगकी नहीं होती; इसलिए असत्से विलक्षण होनेसे द्वैतका विकारत्व होना युक्त है] ।

गुरु—तब तो विलक्षणताका प्रयोजक धर्म दृष्टि ठहरी । इस दशामें यह बात सिद्ध हुई कि दृष्टिकी प्राप्तिमें द्वैत विकार होता है, और दृष्टिकी अप्राप्तिमें द्वैत विकार नहीं होता है । जब यह व्यवस्था ठहरी, तो दृष्टि ही विकारवाली रही; उससे अतिरिक्त दृश्य कुछ नहीं रहा ।

ओमिति चेत्, न; दृष्टेः फलरूपाया आत्मरूपान्तर्भावेन तत्परिणामत्वानुपपत्तेः। नहि स्वयं स्वस्य परिणामः कात्स्न्यैंकदेशविकल्पेन परिणामपक्षानुपपत्तेश्च। ननु विवर्त्तपक्षेऽपि अयं दोषः समान इति चेत्, न; विवर्त्तस्वरूपापरिज्ञानात्। नहि अधिष्ठानस्वरूपातिरिक्तं विवर्त्तो नाम किञ्चिद्वस्तु अस्ति यदाश्रित्य कात्स्न्यैंकदेशविकल्पावतारः स्यात्। किन्तु अधिष्ठानमेव दोषवशाद्विलक्षणाकारेण भासमानं विवर्त्त इति उच्यते। स एव विलक्षणाकारः कस्येति चेत्, वस्तुतो न कस्यापि, अधिष्ठाने तस्य बाधात् अन्यत्र अप्रतीतेः। भङ्ग्यन्तरेण असत्ख्यातिव्युत्पादनमेव एतदिति चेत्, न; ख्यातेरपि अध्यस्तत्वात् असत्ख्यातिवादिना च

शिष्य—अच्छा तो दृष्टि विकार सही।

गुरु—यह भी नहीं हो सकता, दृष्टिके माने तुम क्या समझे वृत्तिका नाम दृष्टि है या विषयसे अभिव्यक्त हुआ जो फलरूप चैतन्य है उसका नाम दृष्टि है? इनमें से पहला पक्ष तो बनेगा नहीं; क्योंकि वृत्ति जड़रूपा है, वह प्रकाशक नहीं हो सकती। अब रहा दूसरा पक्ष, उसपर यह कहना है कि फलरूपा जो दृष्टि है वह आत्मस्वरूपके अन्तर्गत ही है, इसलिए उसका परिणाम होना अयुक्त है, क्योंकि आप ही अपना परिणाम नहीं होता है, और भी यह एक दोष आता है कि आत्माका परिणाम सर्वरूपसे होता है या एक देशसे होता है। यदि सर्वरूपसे होता है तब तो आत्माका ही अभाव हो जायगा, और यदि कहो कि एकदेशसे परिणाम होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा निरवयव है उसका एकदेश ही नहीं बनता, इस तरह परिणामपक्षकी अनुपपत्ति है।

शिष्य—तुम्हारे विवर्त्तवादमें भी तो यही दोष आवेगा।

गुरु—नहीं आ सकता, तुमने अभी विवर्त्तका स्वरूप ही नहीं जाना। सुनो, अधिष्ठानस्वरूपसे भिन्न विवर्त्त कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे कि समस्त परिणाम या एकदेशपरिणामका विकल्प आ सके। किन्तु दोषवशसे अधिष्ठानका विलक्षणरूपसे प्रतीत होना ही विवर्त्त कहलाता है।

शिष्य—यह तो आपका विवर्त्तवादके बहानेसे असत्ख्यातिका कथन हो गया।

गुरु—नहीं ख्याति भी तो अध्यस्त ही है और असत्ख्यातिवाले चार्वा

चार्वाकेण तथा अनभ्युपगमात् सर्वशून्यवादिनस्तु पूर्वं निरस्तत्वात् ।

किमिदं ख्यातेरध्यस्तत्वमिति चेत्, वस्तुतो निष्प्रकारिकायाः सप्रकारकत्वेन भानमेव इति गृहाण। तस्यैव प्रकारस्य स्वरूपं वाच्यमिति चेत्, वस्तुतो निर्विकल्पकख्यातिस्वरूपमेव। तथैव तर्हि प्रत्येतव्यमिति चेत्, उचितमेव तद् विज्ञस्य, न तु भ्रान्तस्य, तस्य भ्रान्तत्वादेव। किं तेन अधिकं प्रतीतमिति चेत्, न किमपि। कथमसौ भ्रान्त इति चेत्, अन्यप्रतीतेरन्यविषयत्वाभिमानादेव; यथा लोके रज्जुं प्रत्येति सर्पमभिमन्यते 'अयं सर्पः' इति। कोऽसावभिमान इति चेत्, परमार्थस्थित-

---

कने ऐसा माना भी नहीं है [अर्थात् चार्वाकके मतमें ज्ञान अध्यस्त नहीं है और हमारे सिद्धान्तमें ज्ञान भी अध्यस्त है। एतावता पराया सिद्धान्त नहीं आ सकता] और सर्वशून्यवादीके मतका पहले खण्डन हो चुका है।

पूर्वपक्षी—ख्यातिकी अध्यस्तता क्या है? यदि ख्याति आत्मचैतन्यका नाम है, तो वह भी अध्यस्त ही है, तब तो शून्यवाद हो गया।

सिद्धा०—हम स्वरूपसे ख्यातिको रजतकी तरह अध्यस्त नहीं कहते, किन्तु वास्तवमें निष्प्रकारिका जो ख्याति है, उसका सप्रकारतासे भान होना ही अध्यस्तता है, यह समझो।

वादी—अच्छा तो उसी प्रकारका स्वरूप कहना चाहिये।

सिद्धा०—वास्तवमें उसका स्वरूप निर्विकल्पक ख्याति ही है।

वादी—यदि उस प्रकारका स्वरूप भी ख्याति—आत्मा ही है, तो उसी रूपसे प्रतीत होना चाहिये।

सिद्धा०—विद्वान्को तो ठीक ही है [अर्थात् विद्वान्को आत्मरूपसे ही प्रतीत होता है] परन्तु भ्रान्तको नहीं होता, क्योंकि वह पुरुष तो भ्रान्त ही ठहरा, उसे कैसे प्रतीत हो?

वादी—उस भ्रान्तको अधिक क्या प्रतीत हुआ।

सिद्धा०—कुछ नहीं।

वादी—फिर वह भ्रान्त कैसे?

सिद्धा०—अन्यकी प्रतीतिको अन्य विषयके अभिमानसे, जैसे लोकमें रज्जुकी प्रतीति होती है और सर्पका अभिमान करता है—यह सर्प है।

विषयस्य भासमानस्यापि असत्त्वनिश्चयः। यदि वस्तुतो रज्जुप्रत्यय एव, कथं तर्हि सर्पोल्लेखितया स प्रत्ययः परिस्फुरति इति चेत्, आकारसाम्यात् दोषवशाच्चेति वदामः। अत एव बाधोत्तरं मन्यते—रज्जुरेव सर्पतया मया प्रतिपन्नेति। तत् किं सर्पो न प्रतिपन्न एव? कः संशयः। एवं तर्हि अनुभवविरोध इति चेत्, न; भ्रान्तानुभवविरोधेऽपि अविरोधात्, तस्य किं प्रतीतं किं न प्रतीतमिति विवेकविरहात्, अभ्रान्तस्य तदनुभवाभावेन अनुभवविरोधाभावात्।

ननु एवं सति अधिष्ठानं तत्प्रतीतिश्चेति द्वयमेव दृष्टान्ते, अतिरिक्तप्रतीतिप्रत्येतव्ययोरसत्त्वस्य व्युत्पादनात्। दार्ष्टान्तिके तु अधिष्ठानं

वादी—वह अभिमान क्या है?

सिद्धा०—परमार्थ विषयके भासमान होनेपर भी असत्त्वका निश्चय करना, बस यही अभिमान है।

वादी—यदि वास्तवमें रज्जुकी ही प्रतीति होती है, तो फिर वह—रज्जुकी प्रतीति—सर्परूपसे क्यों स्फुरित होने लगती है?

सिद्धा०—आकारकी समतासे और दोषवशसे होती है, यह हम कहते हैं। इसीलिए तो सर्पका बाध हो जानेके बाद मनुष्य जानता है कि रज्जुको ही मैंने सर्परूपसे जाना।

वादी—तो क्या सर्प प्रतीत ही नहीं हुआ।

सिद्धा०—इसमें क्या सन्देह।

वादी—यदि ऐसा है, तो अनुभवसे विरोध आवेगा।

सिद्धा०—नहीं आवेगा, क्योंकि भ्रान्त पुरुषोंके अनुभवसे विरोध आनेपर भी विरोध नहीं माना जाता, अर्थात् क्या प्रतीत हुआ क्या नहीं हुआ इस बातका उसको विवेक ही नहीं है और निर्भ्रान्त विद्वान्को तो इस तरहका अनुभव ही नहीं होता, फिर उसके अनुभवसे कैसे विरोध आ सकता है।

वादी—रज्जु ही प्रतीत हुई, सर्प प्रतीत नहीं हुआ, इस प्रकार प्रामाणिक अनुभवके अनुरोधसे—ऐसा कहनेपर दृष्टान्तमें अधिष्ठानभूत रज्जु और उसको विषय करनेवाली प्रतीति ये दो ही हैं, क्योंकि रज्जु और उसकी प्रतीतिसे अतिरिक्त सर्प और उसकी प्रतीति नहीं है, ऐसा व्युत्पादन हो चुका है। और दार्ष्टान्तिकमें तो यह बात नहीं है। वहां तो अधिष्ठान और उसकी

तत्प्रतीतिश्च द्वयमपि आत्मैव, स्वयम्प्रकाशे प्रतीत्यन्तरानभ्युपगमात् । तथा च तदतिरिक्तस्य विवर्त्तस्य दर्शयितुमशक्यतया गतं विवर्त्तवादेन । ततोऽतिस्फुटः स्वसिद्धान्तपरित्याग इति चेत्,

न; तस्य बालव्युत्पत्तिमात्रप्रयोजनतया उपनिषत्तात्पर्य्याविषयत्वात् । अन्यथा विपरीतदृष्ट्यैव द्वैतापत्तेः । मिथ्यैव सा दृष्टिरिति चेत्, किमिदं मिथ्यात्वं त्रैकालिकासत्त्वम् असत्त्वाविशेषेऽपि कदाचित् प्रतीयमानत्वं वा ? नाद्यः, इष्टापत्तेः । न द्वितीयः, तत् प्रतीत्यैव अद्वैतक्षतेस्तादव-

प्रतीति ये दोनों आत्मा ही हैं, क्योंकि स्वयंप्रकाशरूप आत्मामें अन्य प्रतीतिका अङ्गीकार नहीं है । इसलिए उससे अतिरिक्त विवर्त्तका दिखाना अशक्य होनेसे विवर्त्तवाद स्वयं नष्ट हो गया । बस, इसीसे अपने सिद्धान्तका त्याग साफ जाहिर होता है ।

सिद्धा०—नहीं, सिद्धान्तकी हानि नहीं है; विवर्त्तवाद तो केवल बालकोंकी व्युत्पत्तिके लिए कहा गया है, वह उपनिषद्का तात्पर्यविषय नहीं है * । नहीं तो विपरीत दृष्टिसे ही द्वैतकी आपत्ति होगी । कदाचित् कहो कि दृष्टिके मिथ्या होनेसे द्वैतापत्ति नहीं होगी, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि हम पूछते हैं कि मिथ्यात्व क्या चीज है ? तीनों कालोंमें असत् होनेका नाम मिथ्यात्व है या असत्त्वकी विशेषता न होनेपर भी कभी कभी प्रतीत होनेका नाम मिथ्या है ? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें इष्टकी ही प्राप्ति है । एवं दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रतीतिसे अद्वैतकी हानि ज्योंकी त्यों बनी रहती है ।

[तात्पर्य यह है कि 'अयं सर्पः' इस प्रतीतिको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए दूसरी प्रतीति अवश्य कहनी होगी । तब प्रष्टव्य यह है कि वह दूसरी प्रतीति भी मिथ्या है या परमार्थ है अथवा तुच्छ है ? इन तीनों पक्षोंमें से पहला पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि उसमें अनवस्था दोष आता है । और अन्त्य पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसीके समान पहली प्रतीति भी तुच्छ हो जायगी । अब रहा बीचका पक्ष कि प्रतीतिको परमार्थ मानना, परन्तु इसमें भी द्वैतापत्ति रही ।

* यहांपर बालकशब्दका अर्थ मध्यमाधिकारी समझना चाहिये, स्तन्य पीनेवाला नहीं, उन अधिकारियोंके 'सोपानारोहणन्यायसे, अद्वैतचैतन्यमें बुद्धिप्रवेश होनेके निमित्त प्रपञ्चका आरोप करके फिर निषेध करती हुई जो श्रुति है, वह विवर्त्तमें पर्यवसित होती है ।

स्थ्यात्। साक्ष्येव तत्प्रतीतिरिति चेत्, न; तस्य असङ्गत्वात्, 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेः, साक्षिणः कादाचित्कत्वानुपपत्तेश्च।

किञ्च, आत्मनो द्वैतदृष्टिः प्रमाणसिद्धा वा भ्रान्तिसिद्धा? नाद्यः, अद्वैतागमविरोधात्। न इतरः, भ्रान्तिसिद्धपदार्थस्य असत्त्वनियमात्। अन्यथा भ्रान्तित्वानुपपत्तेः। तथा च आत्मनो द्वैतदृष्टिः कदाचिदपि नास्त्येव। तथा च श्रुतिः—'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति' इत्यादिः आत्मनोऽविलुप्तदृष्टिस्वभावस्य द्वैतदृष्टिं वारयति।

वादी—पहली प्रतीतिको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए दूसरी प्रतीति अवश्य मानी जाती है, परन्तु वह साक्षीरूप होनेसे मिथ्या नहीं और उसके स्वयंप्रकाशरूप होनेसे द्वैतापत्ति भी नहीं है।

सिद्धा०—यह नहीं। साक्षीशब्दसे क्या लेते हो? अविद्यावृत्तिमें आरूढ़ चैतन्यको लेते हो या शुद्ध चैतन्यको लेते हो? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट मिथ्या होता है। यदि विशिष्टको भी परमार्थ ही मानो, तो विशेषण जो वृत्ति है वह भी परमार्थ होनी चाहिए, इसलिए अनवस्था दोषका परिहार कुछ न हुआ। कदाचित् यह कहो कि वृत्तिमें प्रतिफलित हुआ चैतन्य स्वयंप्रकाशरूप होनेसे अपने स्वरूपको और वृत्तिको भी प्रकाशित करता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीयमानशब्दसे प्रतीतिका कर्म कहा जाता है और अभेदमें उसका असम्भव है।] अब यदि साक्षीशब्दसे शुद्ध चैतन्य कहो, तो प्रश्न यह होता है कि साक्षी स्वसंगी अर्थको प्रकाशित करता है या असंगीको भी प्रकाशित करता है? इसमें पहला पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि श्रुतिने उसको असंग कहा है—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'। एवं दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि साक्षीको कादाचित्क मानना अयुक्त है।

किञ्च, और भी सुनो, आत्माकी जो द्वैतदृष्टि है, वह प्रमाणसिद्ध है या भ्रान्तिसिद्ध है? यदि कहो कि प्रमाणसिद्ध है, तो अद्वैतसिद्धान्तसे विरोध आता है। कदाचित् कहो कि भ्रान्तिसिद्ध है, तो भ्रान्तिसिद्ध पदार्थ नियमसे असत् होता है। अन्यथा भ्रान्ति ही क्या हुई। इसलिए आत्माकी द्वैतदृष्टि कभी भी नहीं है। इसी बातको श्रुति कहती है—'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्०' इत्यादि

'बालान् प्रति विवर्त्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत् ।
अविवर्त्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा ॥'

इति स्मृतिरपि आत्मनो द्वैतदर्शनाभावमनुमन्यते ।

ननु आत्मनो द्वैतदर्शनाभावे नित्यमुक्तस्य असंसारिणः शास्त्रसाध्यप्रयोजनशून्यतया शास्त्रानर्थक्यप्रसङ्ग इति चेत्, न; नित्यमुक्तस्य असंसारिणः अत्यन्तासत्संसारनिवर्त्तकत्वेन शास्त्रप्रामाण्योपपत्तेः । अत्यन्तासतो नित्यनिवृत्ततया तत्र शास्त्रव्यापारः अनर्थक इति चेत्, न; सत्यस्यापि तुल्यत्वात् । नहि सन्निवर्त्तयति शास्त्रमिति क्वचिद् दृष्टम् । अनिर्वचनीयं निवर्त्तयितुं शास्त्रमिति चेत्, न; तत्रापि अदर्शनस्य तुल्य-

---

श्रुति अविलुप्तदृष्टिस्वभाववाले आत्माकी द्वैतदृष्टिका निवारण करती है । और भी कहा है कि ''बालान् प्रति विवर्तोऽयम्' (यह समस्त जगत् ब्रह्मका विवर्त्त है, यह बात बालकोंके प्रति कही गई है । विद्वान् पुरुष तो अविवर्त्त-रूप परमानन्दमें हमेशा स्थित रहते हैं) इस प्रकारका स्मृतिवाक्य भी आत्माके द्वैतदर्शनाभावका अनुमोदन करता है ।

वादी—नित्यमुक्तस्वभाव आत्माकी द्वैतदृष्टिका यदि अभाव है, तो शास्त्र निरर्थक हो जायगा; क्योंकि शास्त्रसे साध्य कोई प्रयोजन तो रहा ही नहीं ।

सिद्धा०—शास्त्र अनर्थक नहीं होगा, क्योंकि नित्यमुक्त असंसारी आत्माके अत्यन्त असत् संसारका निवर्त्तक होनेसे शास्त्रमें प्रामाण्य हो सकता है ।

वादी—अत्यन्त असत् तो नित्यनिवृत्त ही रहता है, फिर वहांपर शास्त्रका व्यापार अनर्थक क्यों नहीं ?

सिद्धा०—यह मत कहो, क्योंकि इस दशामें तो सत्य भी उसके समान ही रहेगा [अर्थात् सत्यकी निवृत्ति न होनेपर भी शास्त्र अनर्थक ही रहेगा] और शास्त्र सत्को भी निवृत्त कर देता है यह कहीं देखनेमें नहीं आया ।

वादी—अनिर्वचनीयकी निवृत्ति करनेके लिए शास्त्र है ।

सिद्धा०—नहीं, वहां भी दृष्टिका न होना समान ही है, क्योंकि 'अनिर्वचनीय है' और 'निवृत्त हो जाता है' ये दोनों बातें युक्तिसिद्ध नहीं

त्वात्। नहि अनिर्वचनीयं निवर्त्तते इति उभयसंप्रतिपन्नं स्थलमस्ति। तस्मात् 'विमुक्तश्च विमुच्यते' 'निवृत्तं च निवर्त्तते' इत्यादिशास्त्रात् अत्यन्तासत्संसारनिवर्त्तकत्वेनैव शास्त्रप्रामाण्यम्।

'नित्यबोधपरिपीड़ितं जगद्विभ्रमं नुदति वाक्यजा मतिः।
वासुदेवनिहतं धनञ्जयो हन्ति कौरवकुलं यथा पुनः॥'

इति स्मृतिरपि जगदात्मकस्य विभ्रमस्य नित्यबोधस्वभावस्य आत्मनः स्वरूपं पर्य्यालोच्य अत्यन्तासत्त्वमेव आह। किञ्च, ब्रह्मातिरिक्तं शास्त्रसत्त्वमस्तीति ये मन्यन्ते, तान् प्रति भवतु शास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गो दोषः, तस्य प्रमाणैकस्वभावत्वात्। ये तु मन्यन्ते सदा अद्वैतमेव अस्ति द्वैतवार्त्तानभिज्ञाः, तान् प्रति कथमयं दोषः स्यात्? तैः शास्त्रस्य वा तत्प्रामाण्यस्य वा ब्रह्मातिरिक्तस्य अनभ्युपगमात्। अन्यथा

हैं। इसलिए 'विमुक्तश्च विमुच्यते' 'निवृत्तं च निवर्त्तते' (मुक्त ही मुक्त होता है), (निवृत्त ही निवृत्त होता है) इत्यादि शास्त्रसे अत्यन्त असत् संसारका निवर्त्तक होनेके कारण शास्त्र प्रामाण है। इसपर संक्षेपशारीरककारका वचन भी प्रमाणरूपमें ग्रन्थकार उद्धृत करते हैं—'नित्यबोधपरिपीडितं जगत्' (अर्थात् तत्त्वमसि इत्यादि वाक्योंसे उदित हुई बुद्धि नित्यबोध महिमासे अत्यन्त असत् जगत्-भ्रमको दूर कर देती है अर्थात् वास्तवमें जगत् है ही नहीं जो कुछ भ्रम हो रहा है, उसको तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य बुद्धि निवृत्त कर देती है। ऐसी दशामें निवृत्तकी ही निवृत्ति हुई। इस पर दृष्टान्त देते हैं 'वासुदेवनिहतम्' भगवान् कृष्णसे विनाशित कौरववंशको जैसे अर्जुनने मारा 'अर्थात् मरे हुये को मारा') यह स्मृति भी जगत्‌रूप भ्रमके और नित्यबोधस्वभाव आत्माके स्वरूपका विचारकर जगत्‌को अत्यन्त असत् ही कहती है। और युक्ति भी है कि जो लोग ब्रह्मसे अतिरिक्त शास्त्रकी सत्ताको मान रहे हैं, उनके प्रति शास्त्रका अप्रामाण्य दोष भले ही रहे, क्योंकि वह शास्त्र केवल प्रमाणस्वभाव है, परन्तु जो सदासे अद्वैतको ही माने हुये हैं द्वैतकी बात तक नहीं जानते, उनके प्रति यह दोष कैसे आ सकता है? क्योंकि वे तो ब्रह्मसे अतिरिक्त शास्त्र अथवा शास्त्रके प्रामाण्यको मानते ही नहीं हैं। अन्यथा इन्हींसे अद्वैतकी हानि होगी।

ताभ्यामेव अद्वैतक्षतिः स्यात्। न च वेदप्रामाण्यानभ्युपगमे पाषण्डत्वप्रसङ्गः, तदप्रामाण्यस्यापि अनभ्युपगमात्।

न च वेदप्रामाण्यानभ्युपगमे अद्वैतस्य अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गो दोषः, द्वैतदर्शिनं प्रति प्रमाणाधीनसिद्धिके आत्मनि च तस्य दोषत्वात्। ननु द्वैतदर्शित्वं किमात्मनो धर्मः स्वभावो वा ? नाद्यः, द्वैतापत्तेः। न इतरः, द्वैतजातस्य सर्वस्य स्वतःसिद्धिप्रसङ्गादिति चेत्, न; श्रुतिसिद्धात्मस्वरूपानुरोधेन द्वैतजातस्य सर्वस्य तुच्छत्वात्। नहि तुच्छस्य स्वतःसिद्धिः सम्भवति, तस्य निरस्तसमस्तसामर्थ्यस्य स्वतः परतो वा सेद्धुमशक्यत्वात्। ननु आत्मभिन्नस्य जगतस्तद्दर्शनस्य च तुच्छत्वं लौकिकानामभिमतं परीक्षकाणां वा ?

वादी—वेदको प्रमाण न माननेसे तुम्हारा मत पाषण्डमत सिद्ध होगा।

सिद्धा०—हम उसको अप्रमाण भी तो नहीं कहते हैं 'अर्थात् पाषण्डमत तो तब होता, जब कि हम वेदोंको अप्रमाण कहते।

वादी—वेदका प्रामाण्य न माननेपर अद्वैतमत अप्रामाणिक ठहर जायगा।

सिद्धा०—जो कि प्रमाणके अधीन आत्माकी सिद्धि माननेवाले द्वैतवादी हैं उनके प्रति यह दोष अवश्य आ सकता है, हम तो आत्माको स्वतःसिद्ध मानते हैं।

वादी—द्वैतदर्शित्व, आत्माका धर्म है या स्वभाव है ? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि द्वैतापत्ति हो जायगी। रहा दूसरा पक्ष, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त द्वैतमात्रकी स्वतःसिद्धिका प्रसङ्ग आ पड़ेगा।

सिद्धा०—यह दोष नहीं आ सकता, क्योंकि श्रुतिसिद्ध आत्मस्वरूपके अनुरोधसे द्वैतमात्र सब तुच्छ है। और तुच्छ पदार्थकी स्वतःसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सामर्थ्यशून्य जो तुच्छ वस्तु है, वह स्वतः या परतः सिद्धिके योग्य नहीं हो सकती।

वादी—आत्मासे भिन्न जगत्की या जगत्दर्शनकी तुच्छता साधारण मनुष्योंके लिए है या विद्वानोंके लिए है ? इनमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक पुरुषोंकी अबाधित बुद्धि जगत्में अव्याहत (अप्रतिहत) रहती है, तो फिर तुच्छत्व कहाँ रहा अर्थात् दूर हो गया। अब रहा दूसरा पक्ष, तो वह

नाद्यः, तेषामबाधितत्वबुद्धेस्तत्र अव्याहतत्वात् तुच्छत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्। न इतरः, परीक्षकाणां सर्वेषामैकमत्याभावात्। सर्वशून्यवादिना निःशेषप्रमाणप्रमेयापलापिना अप्रामाणिकेन अशेषस्य तुच्छत्वस्वीकारात्। तद्विरुद्धस्य नित्यानित्यविभागेन सार्वदिककादाचित्कत्वस्य अक्षचरणकणभुगादिभिः स्वीकारात्। तद्विरुद्धस्य च सर्वदा सर्वसत्यत्वस्य सांख्यादिभिः अभ्युपगमात्। तस्मात् परीक्षकाणां सर्वेषां परस्परविप्रतिपत्तेरात्मातिरिक्तस्य तुच्छत्वमसम्प्रतिपन्नमेव। तथा च लौकिकपरीक्षकविरुद्धं जगतस्तुच्छत्वं कथमङ्गीकारपथमारोहति? न च परीक्षकाणां मतमपि प्रत्येकं परस्परविरुद्धतया हेयमेवेति वाच्यम्, तावतापि एकैकाङ्गीकारस्य तत्र तत्र अव्याहतत्वात् तुच्छत्वे तदभावात्।

न च अत्रापि ममाऽङ्गीकारोऽस्ति एव इति वाच्यम्, तव अप्रामाणिकत्वात् तुच्छत्वग्राहकप्रमाणाभावात्। न च परीक्षकाणामपि परस्परविरु-

---

भी ठीक नहीं है, क्योंकि सब परीक्षकोंकी (विद्वानोंकी) एक मति नहीं हो सकती है। देखिये, समस्तप्रमाणप्रमेयको न माननेवाले अप्रामाणिक सर्वशून्यवादी बौद्धोंने तो समस्त जगत्को ही तुच्छ माना है। और इनके विरुद्ध नैयायिक और वैशेषिकोंने जगत्को नित्य और अनित्यरूपसे दो हिस्सोंमें विभक्त किया है—अर्थात् नित्यकी सार्वत्रिक सत्ता मानी है और अनित्यकी कादाचित्क सत्ता मानी है। और इनके विरुद्ध सांख्यने हमेशा ही सबकी सत्ता मानी है। उसने किसीको भी अनित्य नहीं माना। इसलिए परीक्षक विद्वानोंके मतमें परस्पर विरोध आनेसे आत्मासे अतिरिक्तको तुच्छ कहना उचित नहीं है, क्योंकि जगत्को तुच्छ कह देना लौकिक और परीक्षक दोनोंके विरुद्ध है। तो फिर जगत् तुच्छ कैसे माना जाय?

सिद्धा०—इन परीक्षकोंका मत भी तो परस्पर विरुद्ध होनेसे त्याज्य ही है।

वादी—शून्य माननेमें तथा सर्वकालमें सत्य माननेमें और कभी २ सत्य माननेमें तो एक एक दर्शनकारोंका ऐकमत्य है, परन्तु जगत्की तुच्छताका तो किसीने अङ्गीकार नहीं किया है।

सिद्धा०—जगत्की तुच्छताको हम तो मानते हैं।

वादी—तुच्छत्वका ग्राहक कोई प्रमाण तुम्हारे पास नहीं है, इसलिए तुम्हारा कहना अप्रामाणिक है।

द्धानां मध्ये कस्य मतं समीचीनं कस्य असमीचीनमिति विनिगमका-भावात् एकमपि न ग्राह्यमिति वाच्यम्, नित्यनिर्दुष्टवेदमूलकत्वभावाभावाभ्यां विशेषाद्; यस्य हि मतं वेदमूलं तत् ग्राह्यं यस्य तु तत् नास्ति तत् त्याज्यं यथा पाषण्डानां मतम्।

हन्त! तर्हि अन्ततोऽपि गत्वा श्रुत्या एव विश्वासश्चेत् श्रुतिसिद्धमेव मतमदुष्टं ग्राह्यमिति तदितरत् अग्राह्यमेव, अप्रामाणिकत्वात् श्रुतिविरुद्धत्वाच्च। श्रुतिस्तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेव अद्वितीयम्' 'स एष नेति नेत्यात्मा' 'अथ तस्यायमादेशोऽमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैततः' इति एवंप्रकारिका सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमात्मानं बोधयन्ती आत्मातिरिक्तस्य सर्वस्य तुच्छत्वमभिमन्यते।

तदतिरिक्तस्य कथञ्चिदपि सत्त्वे अद्वैतव्याघातप्रसङ्गात् तस्मात् जगतस्तुच्छत्वं श्रुत्यनुमतमेव। तदुक्तं गौडैः—

'तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।

सि०—परस्पर विरुद्ध परीक्षकोंमें से भी किसका मत अच्छा है किसका बुरा है इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए वे भी अप्रामाणिक ही हुए।

वादी—जो दोषरहित है और वेदमूलक है वह तो ग्राह्य है और जो वेदविरुद्ध है और दोषयुक्त है वह अग्राह्य है जैसे कि पाषण्डमत।

सिद्धान्ती—हन्त! यदि अन्तमें श्रुतिका ही विश्वास है, तो श्रुतिसिद्ध जो निर्दोष मत है, उसीका ग्रहण करना चाहिये, उससे भिन्न अप्रामाणिक होनेसे अग्राह्य है। और श्रुति कहती है कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, यह पहले सत्रूप ही था) 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म) 'नेति नेति' (यह नहीं यह नहीं) 'अथ तस्यायमादेशः' (वेदकी यह आज्ञा है कि ब्रह्म अमात्र (अप्रमेय) है, तुरीय है, व्यवहारके अयोग्य है, प्रपञ्चका उपशमरूप है तथा अद्वैत शिवरूप है।) इस प्रकारसे सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे शून्यका बोध कराती हुई श्रुति ब्रह्मसे भिन्न सबको तुच्छ कहती है।

यदि ब्रह्मसे भिन्न पदार्थकी किसी तरहकी सत्ता हो, तो अद्वैतका व्याघात हो जायगा। इसलिए जगत्की तुच्छता श्रुतिसे अनुमत है यही गौडपादने भी कहा है—'तुच्छाऽनिर्चनीया चेति' (श्रुति, युक्ति, लोक

ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥'

वसिष्ठोऽपि इममर्थं साश्चर्यवत् आह—

'अहो नु चित्रं यत् सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् ।
यदसत्यमविद्याख्यं तत् पुरः परिवल्गति ॥'

तथा—

'अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः ।
अविद्यमाना याऽविद्या तया विश्वं खिलीकृतम् ॥'

तस्माद् द्वैततद्दर्शनयोस्तुच्छत्वात् स्वतःसिद्धशुद्धबुद्धमुक्तपरिपूर्णानन्दात्मनः अदृष्टद्वयत्वमुपपन्नतरम् ।

तथा च श्रुतिः—

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥'

इन तीन तरहके बोधोंसे माया तीन प्रकारकी जाननी चाहिये [अर्थात् श्रुतिसे तो तुच्छ कही गई है, युक्तिसे अनिर्वचनीय और लोकसे वास्तव अर्थात् परिणामरूप, इस प्रकार तीन तरहकी माया कही गई है] और वसिष्ठजीने भी यही बात बड़े आश्चर्यके साथ कही है—अहो बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो सत्य ब्रह्म है उसको तो लोगोंने भुला दिया और जो असत्य अविद्या है वह सामने प्रतीत हो रही है। और भी कहा है—अहो आश्चर्य है कि कमलनालोंके तन्तुओंसे पर्वत बाँधे गये, क्योंकि अविद्यमान जो अविद्या है उसने तमाम विश्वको विकल कर रक्खा है।

इससे द्वैत और द्वैतका दर्शन—ये दोनों तुच्छ हैं। अतः स्वतःसिद्ध शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव और परिपूर्ण आनन्दस्वरूप आत्माको अदृष्टद्वय कहना ठीक ही है। श्रुति भी आत्माकी द्वैतदर्शनशून्यताका कथन करती है—'न निरोधो न चोत्पत्तिरिति' (न किसीका नाश होता है, न किसीकी उत्पत्ति होती है, न कोई बद्ध है, न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है बस, यही एक परमार्थ है। और भी कहा है—'तदेव निष्कलं ब्रह्म' (जो निरवयव, निर्विकल्प, और निरञ्जन ब्रह्म है, वही

'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनादिं च यद् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥'

इत्येवमादिका आत्मनो द्वैतदर्शनशून्यत्वमाह । तस्मात्

सत्यं ज्ञानमनन्तं च पूर्णमानन्दविग्रहम् ।
मान्त्रवर्णिकमात्मानं विनिश्चित्य विमुच्यते ॥ ५७ ॥

न च एतादृशमात्मज्ञानं न जायत इति साम्प्रतम् , साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य विविदिषोर्मनननिदिध्यासनाभ्यामुपकृतश्रवणानुष्ठानसमनन्तरमेव तदुत्पत्तिदर्शनात् अन्यथा तादृशात्मप्रतिपादकागमाप्रामाण्यप्रसङ्गः ।

न च जातमपि ज्ञानं साधनान्तरापेक्षया फलदानाय विलम्बत इति वाच्यम् , 'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति'

मैं हूँ ऐसा जानकर ब्रह्मको प्राप्त होता है) 'निर्विकल्पमनन्तं च' (जो निर्विकल्प है, निरञ्जन 'अविद्यालेशरहित' है, हेतुदृष्टान्तसे रहित है, अप्रमेय और अनादि है उसको जानकर विद्वान् पुरुष मुक्त हो जाता है) इत्यादि श्रुतिस्मृतिवाक्य आत्माको द्वैतदर्शनशून्य कहते हैं । इसलिए

सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, पूर्ण, आनन्दस्वरूप तथा मन्त्रवर्णोंसे सिद्ध आत्माका अभिन्नरूपसे निश्चय करके मुक्त हो जाता है ॥५७॥

कदाचित् कहो कि इस प्रकारका आत्मज्ञान नहीं हो सकता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासुको मनन-निदिध्यासनसे परिपूर्ण और गुरुद्वारा उपदिष्ट महावाक्यका श्रवण करनेके बाद ही ज्ञानोत्पत्ति देखी जाती है, अन्यथा इस तरहके आत्माको कहनेवाले शास्त्रका अप्रामाण्य हो जायगा ।

वादी—उत्पन्न हुआ ज्ञान भी साधनान्तर (कर्मानुष्ठान) की अपेक्षासे फल देनेमें विलम्ब करेगा, क्योंकि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यादि स्मृतिसे कर्मोंके बिना मोक्षप्राप्ति दुर्घट है, इसलिए केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती ।

सिद्धा०—यह मत कहो, क्योंकि 'तद्धैतत्पश्यन्' इस श्रुतिसे दर्शनमात्रसे ही सर्वभावापत्ति कही गई है, श्रुतिका अर्थ यह है कि वामदेव ऋषिने 'वह

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिश्रुतिभ्यः आत्मज्ञान-तत्फलयोः समानकालनिर्देशात् मध्ये साधनान्तरकालविलम्बयोरभावप्रतिपत्तेः 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि-साधनान्तरप्रतिषेधश्रवणाच्च। तस्मात् ससन्न्यासात्मज्ञानमेव अमृतत्व-साधनं यत्नतः सम्पादनीयं तदभावे यतो महती विनष्टिः श्रूयते 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीत् महती विनष्टिः' इत्यत्र। उत्पन्ने च ब्रह्मात्मज्ञाने विदुषः फलेन सह विद्योद्गारः स्मर्यते—

'विद्याविग्रहमग्रहेण पिहितं प्रत्यञ्चमुच्चैस्तरा-
मुत्कृष्योत्तमपूरुषं मुनिधिया मुञ्जादिषीकामिव।

ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकारसे साक्षात्कार किया इस साक्षात्कारमात्रसे ही 'मैं ही मनु हुआ' 'मैं ही सूर्य हुआ' इस तरहसे सर्वभावापत्तिका प्रतिपादन करनेवाले मन्त्र देखे, और भी श्रुति कहती है—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मका जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है) 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्म-ज्ञानी शोकको तर जाता है) इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मज्ञानका और उसके फलका एक ही कालमें वर्णन किया गया है। बीचमें साधनान्तर (कर्मानुष्ठान) और कालविलम्बका अभाव कहा है अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होनेपर मुक्तिमें कुछ भी विलम्ब नहीं रहता, और 'तमेव विदित्वाति०' (उस आत्मा को जानकर ही मृत्युको जीतता है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है) इत्यादि श्रुतिसे और साधनोंका निषेध सुननेमें आता है। इसलिए संन्यासके सहित आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन है। उसीका सम्पादन करना चाहिये। इसके न करने से बड़ी भारी हानि सुननेमें आती है—'इह चेद-वेदीत' (इस संसारमें ब्रह्मात्मभावसे अपनेको जाने तो ठीक है, यदि न जाने तो बड़ी भारी हानि है।) इसलिए आत्मसाक्षात्कार अवश्य कर्त्तव्य है और ब्रह्मात्मज्ञानके उत्पन्न होनेपर विद्वान्‌का फलसहित विद्याका उद्गार स्मरण किया जाता है। तत्त्वज्ञान होनेपर संसार निवृत्त हो जाता है, इसपर विद्वानोंके अनुभवका प्रमाण ग्रन्थकार देते हैं—

जो प्रत्यगात्मा विज्ञानस्वरूप है, वह अज्ञानसे ढका हुआ है, अतएव उसका ग्रहण (साक्षात्कार) नहीं होता था, अब सात्त्विक बुद्धिसे मुञ्जमें से ईषिकाके

कोशात् कारणकार्य्यरूपविकृतात् पश्यामि निःसंशयं
नासीदस्ति भविष्यति क्व नु गतः संसारदुःखोदधिः ॥'

पश्यामि चित्रमिव सर्वमिदं द्वितीयं तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते ।
आत्मानमद्वयमचिन्त्यसुखैकरूपं पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम् ॥
अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्वतुल्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीव वीक्षे ।
एवं च जीवनमिव प्रतिभासनं च निःश्रेयसाधिगमनं च मम प्रसिद्धम् ॥
आश्चर्य्यमद्य मम भाति कथं द्वितीयं नित्ये निरस्तनिखिले शिवचित्प्रकाशे ।
आसीत् पुरेति किमिमाः श्रुतयो न पूर्वं येन द्वितीयमभवत् तिमिरप्रसूतम् ॥

एवं शास्त्राचार्य्यप्रसादापरोक्षीकृततीव्रब्रह्मात्मतत्त्वस्य गुरुभक्त्यभिनयोऽपि स्मर्य्यते, अतोऽपि इयं विद्या जायते एव । तथाहि—

समान कार्यकारणरूप पंच कोशसे पृथक् करके तथा सन्देहरहित होकर उस प्रत्यगात्माको देखता हूँ, संसार न तो पहले था, न अब है और न आगे होगा; संसाररूपी दुःख समुद्र न मालूम कहां चला गया ॥ इस समस्त द्वैतको चित्रकी तरह देख रहा हूँ और मैं निरवयव केवल चित्स्वरूप अनन्त आत्मामें स्थित हुआ अचिन्त्य अद्वितीय सुखस्वरूप आत्माको देख रहा हूँ और प्रपञ्चको जली हुई रस्सीके समान देख रहा हूँ [अर्थात् अद्वैतदर्शनसे द्वैतप्रपञ्च सब बाधित हो गया ।] ॥ हाथमें रक्खे हुये बिल्वफलके समान अद्वैतका अनुभव कर रहा हूँ और सर्पकी केंचुलके समान शरीरको भी देख रहा हूँ, इस प्रकार जीवनके प्रतिभासित होनेपर भी मेरी जीवन्मुक्ति प्रसिद्ध ही है । परन्तु मुझको आश्चर्य मालूम होता है कि समस्त उपाधिरहित नित्य कल्याणस्वरूप चैतन्य प्रकाशरूप आत्मामें द्वैतप्रतीति क्यों हुई, क्या वे श्रुतियाँ पहले न थीं, जो कि अज्ञानसे उत्पन्न हुआ द्वैत प्रतीत होता था ।

इस प्रकार शास्त्र और आचार्यके अनुग्रहसे अतितीव्र ब्रह्मात्मका जिसने साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे मुमुक्षु पुरुषकी गुरुभक्तिका अभिनय स्मरण किया जाता है, क्योंकि गुरुसे ही इस विद्याकी प्राप्ति हुई है । उसीको दिखाते हैं—

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयणं विना मे सन्नप्यसन्निव परः पुरुषः पुराऽऽसीत् ।
त्वत्पादपद्मयुगलाश्रयणादिदानीं नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः ॥
यस्मात् कृपापरवशो मम दुश्चिकित्सं संसाररोगमपनेतुमसि प्रवृत्तः ।
त्वत्पादपङ्कजरजः शिरसा दधानस्त्वामाशरीरपतनादहमप्युपासे ॥

ननु विद्यया अविद्योपमर्देऽपि कथं संसारस्य इहलोकपरलोकसञ्चारलक्षणस्य नानाविधयोनिप्राप्तिपरिहाराभ्याम् अनेकविधदुःखसङ्कुलस्य निवृत्तिः स्यात् तद्धेतोः कामकर्मादेस्तदवस्थत्वात् ।

न च अविद्यानिवृत्त्या तदुपादेयस्यापि सर्वस्य निवृत्तिरावश्यकीति वाच्यम्, वैशेषिकाणाम् उपादाने निवृत्तेऽपि क्षणं कार्य्यावस्थानवदनिवृत्तिशङ्काया दुरपह्नवत्वात् । न च क्षणान्तरे नंक्ष्यत्येव इति न दोषः, तत्क्षणवत् उत्तरक्षणेऽपि अनुपपत्त्यभावस्य अनुमातुं शक्यत्वात् । तस्मात्

हे गुरो, आपके चरणकमलोंके आश्रयके बिना यह परम पुरुष सत्रूप भी असत् सा प्रतीत होता था अब आपके चरणकमलोंके आश्रयसे भेदबुद्धि न थी, न है और न होगी । आप कृपावश होकर मेरे दुश्चिकित्स (अप्रतीकार्य) संसाररोगको दूर करनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं, अतः अब मैं आपके चरणरजको मस्तकमें धारण करता हुआ शरीरपात होने तक आपकी शुश्रूषा करूँगा

वादी—विद्यासे अविद्याका उपमर्दन होनेपर भी इस लोक और परलोकमें संचरणशील और नाना प्रकारकी योनियोंका मिलना और त्याग करना इस तरहके अनेक दुःखोंसे व्याप्त इस संसारकी निवृत्ति कैसे हो सकेगी, क्योंकि संसारके कारण जो काम, कर्मादि हैं, वे सब विद्यमान हैं ।

सि०—प्रपञ्चका कारण कर्म नहीं है, किन्तु अविद्या है उस अविद्याके निवृत्त हो जानेसे तन्मूलक संसारकी भी निवृत्ति अवश्य होगी ।

वादी—यह आपका कहना ठीक नहीं है, जैसे कि वैशेषिकोंके मतमें उपादानके निवृत्त हो जानेपर भी क्षणमात्र कार्यकी स्थिति रह सकती है । इसी तरह संसार निवृत्त होनेकी शङ्का भी बनी रही । कदाचित् यह कहो कि उनके मत दूसरे क्षणमें तो नष्ट हो ही जाता है, अतः कुछ दोष नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस क्षणके समान आगेके क्षणमें भी अनुपपत्तिके अभावका

अज्ञाने निवृत्तेऽपि संसारो न निवर्त्तिष्यते प्रमाणाभावादिति व्यर्थः प्रयासः। मैवम्,

कर्म मूलमनर्थानां तच्च ज्ञानेन बाध्यते।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तथा च श्रुतिशासनम् ॥५८॥

ज्ञाने जातेऽपि कर्ममूलकः संसारः अनुवर्त्तिष्यत इति यदुक्तम्, तन्न; अविद्यावत् कर्मणोऽपि ज्ञानेन बाधितत्वात्। अविद्यावत् तत्कार्य्येण अपि विद्याया विरोधित्वाविशेषात्।

नहि सम्भवति रज्जुसाक्षात्कारे तदविद्यानिवृत्तौ तत्कार्य्यं सर्पाद्यनुवर्त्तत इति। न च यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकमिति अवधारणं शास्त्रकाराणामेवं सति असमञ्जसमिति वाच्यम्, अज्ञानकार्य्यस्यापि अज्ञानानतिरेकात् तदभावे तत्सत्त्वानुपलम्भात्। न च अत्र प्रमाणाभावः।

अनुमान हो सकता है। इसलिए अज्ञानके निवृत्त हो जानेपर भी संसार निवृत्त न होगा, क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। अतः व्यर्थ ही यह तुम्हारा प्रयास है।

सि०—ऐसा मत कहो क्योंकि,

समस्त अनर्थोंका मूल कर्म है, उसका ज्ञानसे बाध हो जाता है 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, यह श्रुतिकी आज्ञा है ॥ ५८ ॥

और यह जो तुमने कहा है कि ज्ञानके होनेपर भी कर्ममूल संसार बना रहेगा? यह ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्याकी तरह कर्मका भी ज्ञानसे बाध हो जाता है अर्थात् अविद्याकी तरह अविद्याकार्यरूप कर्मके साथ भी विद्याका विरोध होनेमें कुछ विशेषता नहीं है और यह बात सम्भव भी नहीं हो सकती है कि रज्जुके साक्षात्कारसे उसकी अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर फिर भी अविद्याकार्य सर्पादिकी अनुवृत्ति बनी रहे।

वादी—शास्त्रकारोंका तो यह निश्चय है कि ज्ञान सिर्फ अज्ञानका ही निवर्त्तक होता है कर्मका निवर्त्तक नहीं होता है। यदि ज्ञानसे कर्मकी भी निवृत्ति मानी जाय, तो यह उन शास्त्रकारोंका कहना असमञ्जस होगा।

सिद्धा०—अज्ञानका कार्य भी तो अज्ञानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

इति श्रुतिः । न च एतद्वाक्यमशुभकर्मनिवृत्तिपरमेव इति वाच्यम्, कर्मशब्दस्य शुभाशुभसाधारणत्वात् विद्यासामर्थ्यस्य च उभयत्र तुल्यत्वात् ।

'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं शाब्दं दैशिकपूर्वकम् ।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥'

इत्यत्र बुद्धिपूर्वकृतपापस्यापि ब्रह्मज्ञानेन दाहस्मरणात् ।

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥'

इत्यत्र सर्वशब्देन अशेषपुण्यपापे गृहीत्वा तस्य सर्वस्यैव ज्ञानाग्निना

अज्ञानके अभावमें उसके कार्यकी सत्ता प्रतीत नहीं होती [अर्थात् जब कि अज्ञानका ही बाध हो गया, तो अज्ञानका कार्य कर्म फिर कैसे रह सकता है] ।

वादी—इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि ज्ञानसे कर्मका भी नाश हो जाता है ।

सिद्धा०—प्रमाण क्यों नहीं है, देखो श्रुति क्या कहती है—'भिद्यते' (परावर—हिरण्यगर्भादि जिससे न्यून हैं, उस परमात्माका साक्षात्कार होनेपर इस मुमुक्षु पुरुषकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सब सन्देह छिन्न हो जाते हैं और समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है) इत्यादि ।

वादी—यह श्रुति तो अशुभ कर्मोंकी निवृत्तिका बोधन करती है ।

सिद्धा०—यहांपर कर्मशब्द शुभ और अशुभ उभयकर्म साधारण है और विद्याकी सामार्थ्य दोनोंके निवृत्त करनेमें एकसी है । अन्यत्र कहा भी है कि 'ब्रह्मात्मैकत्व०' (गुरु द्वारा उपदिष्ट जो ब्रह्मात्म-एकत्वज्ञान है वह बुद्धिपूर्वक (जान बूझ कर) किये हुए भी समस्त पापोंको अग्निके समान जला देता है) । इस वाक्यमें बुद्धिपूर्वक किये हुए पापोंका भी ब्रह्मज्ञानसे दग्ध हो जाना साफ कहा है । और भी कहा है—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्०' (हे अर्जुन, जिस तरह प्रदीप्त अग्नि काष्ठोंके समूहको जला देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि भी सब कर्मोंको दग्ध कर देती है ।) इस भग-

ब्रह्मस्य भगवतापि उक्तत्वाच्च । किञ्च, यस्य दर्शनमात्रात् अन्येषामपि पापक्षयो जायते का कथा तस्य ब्रह्मीभूतस्य पापक्षये । तदाह भगवान् वसिष्ठः—

'यस्याऽनुभवपर्य्यन्तं तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्त्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥'

तथा च कुलपावित्र्यहेतुत्वमपि ब्रह्मविदः स्मर्य्यते—

'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥'

तस्मात् यथोक्तब्रह्मात्मकत्वविज्ञानेन कृतकृत्यो भवतीति न अत्र विवदितव्यम् इति ।

प्रकाशानन्दयतिना कृतिना स्वात्मशुद्धये
सिद्धान्तमुक्तावल्येषा रचिता रन्ध्रवर्जिता ॥१॥
अद्वैतानन्दसन्दोहा सत्यज्ञानादिलक्षणा
नारायणसमासक्ता श्रिया सापत्न्यदूषिता ॥२॥

वह्वाक्यमें (सर्व) शब्द पड़ा हुआ है उससे पाप-पुण्यरूप सभी कर्मोंका ज्ञानाग्निसे दाह होना भगवान्‌को इष्ट है । और भी देखो—जिस ब्रह्मज्ञानीके दर्शनमात्रसे औरोंके भी पाप नष्ट हो जाते हैं साक्षात् ब्रह्मीभूत उस ज्ञानीके पाप कैसे रह सकते हैं ? यही भगवान् वसिष्ठजी ने कहा है—जिसकी बुद्धि अनुभवपर्यन्त तत्त्वमें प्रवृत्त रहती है उस ज्ञानीके केवल दृष्टिगोचर जो कोई होते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं । यहांपर ब्रह्मवेत्ताके कुलकी पवित्रताका भी स्मरण किया गया है—ज्ञान और सुखके अपार समुद्र परब्रह्ममें जिसका चित्त लीन हो जाता है उस पुरुषका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी माता कृतार्थ हो जाती है और उससे पृथिवी पुण्यवती कहलाती है । अतः पूर्वोक्त ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानसे वह कृतकृत्य हो जाता है, इसमें विवाद नहीं करना चाहिए ॥

प्रकाशानन्द योगिराजने अपनी आत्मशुद्धिके लिए यह छिद्ररहित (निर्दोष) सिद्धान्तमुक्तावली (मोतियोंकी माला) बनाई है ॥१॥

यह अद्वैत आनन्दकी समूहरूपा है, सत्यज्ञान इत्यादि लक्षणोंसे युक्त है, नारायणके कण्ठमेंअर्पित है, जिसके साथ लक्ष्मीने सापत्न्यभावसे ईर्ष्या की है ॥२॥

श्रृणु प्रकाशरचितां सद्वैततिमिरापहाम् ।
वादीभकुम्भनिर्भेदे सिंहदंष्ट्राधरीकृताम् ॥३॥
वेदान्तसारसर्वस्वमज्ञेयमधुनातनैः ।
अशेषेण मयोक्तं तत् पुरुषोत्तमयत्नतः ॥४॥
स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वापि दत्ताऽवनिः
यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्य्यं मनः प्राप्नुयात् ॥५॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीज्ञानानन्द-
पूज्यपादशिष्यश्रीप्रकाशानन्दविरचिता
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली समाप्ता ।

प्रकाशानन्द स्वामीकी बनाई हुई यह मुक्तावली द्वैतान्धकारका नाश करनेवाली और वादीरूपी हस्तियोंके मस्तकोंके विदारण करनेमें सिंहकी दाढ़ोंको भी तुच्छ कर देनेवाली है, अतः विजयाकांक्षी पुरुषोंके सुनने योग्य है ॥३॥

जो वेदान्तके सर्वस्व आधुनिक पुरुषोंसे अज्ञेय हैं उन सबका भगवत्कृपासे मैंने साकल्येन वर्णन किया है ॥४॥

जिसका मन ब्रह्मविचारमें एक क्षण भी लग गया उसने समस्त तीर्थोंके जलमें स्नान कर लिया, समस्त पृथिवीका दान कर लिया, सहस्रों यज्ञ भी कर लिए, सब देवताओंकी भी पूजा कर ली और संसारसे अपने पितरोंका उद्धार भी कर लिया, वह पुरुष त्रिलोकमें पूज्य है ॥५॥

पण्डितवर त्रिपाठ्युपनामक श्रीप्रेमवल्लभशास्त्री द्वारा विरचित वेदान्तसिद्धान्त-
मुक्तावलीभाषानुवाद समाप्त ।

॥ इति ॥